सप्तमोऽध्यायः

ऋषिः—गोतमः। देवता—प्राणः। छन्दः—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पवित्रता

वाचस्पतये पवस्व वृष्णोऽअꣳशुभ्यां गभस्तिपूतः।
देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति इन शब्दों पर हुई थी कि 'वे प्रभु जीव को उत्कृष्ट ज्ञान देते हैं—उत्कृष्ट शंसन करते हैं', अतः प्रस्तुत अध्याय का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं कि **वाचस्पतये**=वाणी के पति प्रभु के लिए, उसको हृदयासीन करने के लिए **पवस्व**=तू अपने जीवन को पवित्र बना। प्रभु को अपने हृदय में आसीन करने का प्रकार यही है कि हम अपने हृदय को निर्मल और निर्मलतर बनाते चलें। २. 'हृदय को निर्मल कैसे बनाएँ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **वृष्णः**=सब सुखों की वर्षा करनेवाले सोम की **अंशुभ्याम्**=(अंश to divide) भेदक शक्तियों से। शरीर में उत्पन्न होनेवाली वीर्यशक्ति 'सोम' है। इस सोम के अन्दर शरीर के रोगों व बुद्धि की मन्दता को दूर करने की क्षमता है। वही इसकी भेदक शक्ति है। इस सोम की भेदक शक्तियों से हमारा जीवन पवित्र हो जाता है और हम प्रभु के निवास के योग्य बनते हैं। ३. **गभस्तिपूतः**=ज्ञान की रश्मियों से पवित्र हुआ-हुआ **देवः**=प्रभु का स्तोता बनकर (दिव्+स्तुति) **देवेभ्यः**=देवों के लिए तू **पवस्व**=अपने को पवित्र कर ले, अर्थात् ज्ञान+भक्ति से पवित्र हुआ तू देवों का निवासस्थान बन, **येषाम्**=जिन देवों का तू **भागः** =सेवनीय **असि**=है। सारे देव तुझमें आकर निवास करते हैं। तू ज्ञान व भक्ति से अपने कर्मों को पवित्र कर डाल, जिससे तू देवों का सेवनीय स्थान बना रहे। ४. मन्त्र का ऋषि गोतम है। यह अपने जीवन को पवित्र करके देवों को अपनाता है। देवों का निवास-स्थान बनकर यह प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है। 'वाचस्पति' प्रभु की प्राप्ति से इसे भी ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं और यह मन्त्र का ऋषि 'गोतम'=अत्यन्त प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाला बनता है।

भावार्थ—अपने जीवन को पवित्र करके तू प्रभु को प्राप्त कर और ज्ञानवाणियों को ग्रहण करके 'गोतम' बन। इस स्थिति में पहुँचने के लिए तू सोम की रक्षा कर। नीरोग व तीव्र बुद्धि बनकर तू देव बन।

ऋषिः—गोतमः। देवता—सोमः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

नाम-स्मरण

मधुमतीर्नऽइषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै
ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमि॥२॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु को हृदयासीन करने के लिए गोतम ने अपने जीवन को अधिकाधिक पवित्र करने का प्रयत्न किया। यह गोतम प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सोम**=हृदयस्थ शान्त प्रभो! आप **नः** =हमारे लिए **मधुमतीः इषः**=अत्यन्त माधुर्य से पूर्ण

प्रेरणाओं को **कृधि**=कीजिए। हमारे जीवनों में, हमारे व्यवहारों में ये प्रेरणाएँ माधुर्य भरने-वाली हों। २. हे **सोम**=प्रभो! **यत्**=जो **ते**=तेरा **अदाभ्यम्**=हिंसित न होने देनेवाला **जागृवि**=सदा सावधान, पहरेदार की भाँति रक्षा करनेवाला **नाम**=नाम है, उसे हे सोम! **तस्मै ते सोमाय**=उस तुझ सोम को प्राप्त करने के लिए **स्वाहा**=(सु+आह) मैं सुन्दरता से उच्चारण करता हूँ। प्रभु-नाम का उच्चारण मुझे एकाग्र करेगा और अपने अन्दर उस शान्तात्मा प्रभु को देखने के योग्य बनाएगा। ३. मैं **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग (स्व+हा) करता हूँ और **अन्तरक्षिं अन्वेमि**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त करता हूँ, स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर हृदय को विशाल बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु का नाम-स्मरण करने से हम वासनाओं व रोगों के शिकार नहीं होते। यह नाम हमारा सदा जागरित रक्षक बन जाता है। हम नाम का सुन्दरता से उच्चारण करें, जिससे उस सोम=शान्तस्वरूप प्रभु को प्राप्त कर सकें। हम स्वार्थ-त्याग करके अपने हृदयान्तरिक्ष को विशाल बनाएँ।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—विद्वांसः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सोम

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवाꣳशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्क्ष्येन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा॥३॥

गत मन्त्र में वर्णित सोम=उस शान्तात्मा प्रभु को पाने के लिए शरीर में सोम (वीर्य) की रक्षा आवश्यक है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में उसी का वर्णन करते हैं—१. **स्वाङ्कृतोऽसि**=तू स्वयंकृत है, अर्थात् प्रभु-निर्मित व्यवस्था के अनुसार हमारे किसी प्रयत्न के बिना तू शरीर में स्वयं उत्पन्न होता है। तू **विश्वेभ्यः इन्द्रियेभ्यः**=इन्द्र की सब शक्तियों के लिए उत्पन्न किया गया है (इन्द्रिय=इन्द्र की शक्ति)। चाहे वे शक्तियाँ **दिव्येभ्यः**=द्युलोक अर्थात् मस्तिष्क-सम्बन्धी हों और चाहे **पार्थिवेभ्यः**=वे शक्तियाँ पृथिवी अर्थात् शरीर-सम्बन्धी हों, अर्थात् इस सोम के द्वारा मस्तिष्क व शरीर दोनों का ही विकास होता है। ज्ञानाग्नि दीप्त होती है, शरीर स्वस्थ होता है। २. इस सोम की रक्षा से **मनः**=ज्ञान **त्वा**=तुझे **अष्टु**=व्याप्त करे। **स्वाहा**=अतः इस सोम की रक्षा के लिए तू सुन्दरता से उस प्रभु के नाम का उच्चारण कर (सु आह)। ३. हे **सुभव**=उत्तम सात्त्विक अन्नों से उत्पन्न होनेवाले सोम! मैं **सूर्याय**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य के उदय के लिए **त्वा**=तुझे सुरक्षित करता हूँ। **मरीचिपेभ्यः**=ज्ञान की किरणों का पान करने के लिए मैं तुझे अपने में धारण करता हूँ। ४. हे **देव**=सब दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले **अंशो**=शत्रुओं का भेदन करनेवाले सोम! **यस्मै**=जिस उद्देश्य से **त्वा ईडे**=मैं तेरी (प्रशंसा=स्तुति) करता हूँ **तत् सत्यम्**=वह मेरा उद्देश्य सत्य हो, अर्थात् मेरी वह कामना पूर्ण हो। मेरी वह कामना यह है कि तेरे **उपरिप्रुता**=(उपरि प्रवते) ऊर्ध्व गतिवाले **भङ्क्ष्येन**=शत्रुमर्दक बल से **असौ**=वह अज्ञानरूप शत्रु **फट्**=झट **हतः**=मारा जाए, अर्थात् सोम की ऊर्ध्वगति से मुझमें वह शक्ति उत्पन्न हो कि मैं ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाली सब वासनाओं को नष्ट कर डालूँ। ५. हे सोम! **प्राणाय**=मैं शरीर में प्राणशक्ति की वृद्धि के लिए **त्वा**=तुझे स्वीकार करता हूँ। **व्यानाय त्वा**=मैं तुझे व्यानशक्ति की वृद्धि के लिए स्वीकार करता हूँ। प्राणशक्ति की वृद्धि से मैं नीरोग बनूँगा, और

व्यानशक्ति की वृद्धि से मैं शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर काबू पाऊँगा। ऐसा होने पर मैं वस्तुतः 'गोतम' प्रशस्तेन्द्रिय बनता हूँ।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मेरे मस्तिष्क व शरीर दोनों का विकास होता है, वासना का विनाश होकर प्राण व व्यानशक्ति बढ़ती है।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—मघवाः। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

अन्तर्नियमन

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्। उरुष्य रायऽएषो यजस्व॥४॥

गत मन्त्र में वर्णित सोम की रक्षा के लिए संयम आवश्यक है। संयम ही योग है। इस योग का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में चलता है। १. हे गोतम! तू **उपयाम गृहीतः असि**=(उपयामाः=योगनियमाः) तू योग के नियमों से गृहीत है, अर्थात् तूने योग के नियमों का पालन किया है। इन योग-नियमों के द्वारा तू **अन्तः यच्छ** =इधर-उधर भटकनेवाले मन को अन्दर ही रोक। २. मन के निरोध से ही तेरा जीवन वास्तविक ऐश्वर्य से युक्त होगा। उस ऐश्वर्य से युक्त होकर **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्यवाले गोतम! तू **सोमम्**=सोम को **पाहि**=सुरक्षित कर। **उरुष्य**=इन वासनाओं को ख़ूब ही नष्ट कर (षोऽन्तकर्मणि) ३. वासनाओं को नष्ट करके **रायः**=ज्ञान-धनों को तथा **इषः**=प्रभु से दी जानेवाली प्रेरणाओं को तू **आयजस्व**=अपने साथ सङ्गत कर। ४. वस्तुतः योगमार्ग पर चलनेवाले जीवन का क्रम यही होता है कि (क) वह योग-नियमों को स्वीकार करता है (ख) मन का अन्दर ही निरोध करता है (ग) ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करके सोम की रक्षा करता है। (घ) वासनाओं का विनाश करता है। (ङ) और ज्ञान-धनों व प्रभु-प्रेरणाओं के साथ अपने को जोड़ता है। यह अन्तर्नियमन ही योग है। यही कल्याणकर है।

भावार्थ—हम योग-नियमों का पालन कर मनोनिरोध करें। वासनाओं को जीतकर ज्ञान-धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—ईश्वरः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अवर-पर देवमैत्री

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व॥५॥

गत मन्त्र के 'उपयामगृहीत'=योग के नियमों का पालन करनेवाले से प्रभु कहते हैं कि मैं १. **ते अन्तः**=तेरे अन्दर **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **दधामि**=धारण करता हूँ। तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्योतिर्मय बनाता हूँ और तेरे पृथिवीरूप शरीर को बड़ा दृढ़ बनाता हूँ। २. **अन्तः**=तेरे अन्दर **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को धारण करता हूँ। तेरे हृदय को विशाल बनाता हूँ। ३. इस योग-साधना से शरीर में सब देवांश बड़े ठीक ढङ्ग से अपना-अपना कार्य करते हैं। शरीर के मस्तिष्करूप द्युलोक में निवास करनेवाले देव 'पर' हैं तो पाँव आदि में रहनेवाले देव 'अवर' हैं। **अवरैः परैः च**=इन अवर व पर **देवेभिः सजूः**=देवों से मित्रतावाला तू **अन्तर्यामे**=योग के द्वारा मन को अन्दर ही नियमन करने पर **मघवन्**=ज्ञानरूप उत्कृष्ट ऐश्वर्यवाला होकर **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर। योग को यहाँ 'अन्तर्याम' शब्द से स्मरण किया गया है, क्योंकि इसके द्वारा मन को

बाह्य विषयों से रोककर अन्दर रोका जाता है और इसके साथ ही प्राणनिरोध के द्वारा सोम का भी शरीर के अन्दर नियमन होता है। एवं, यह योग 'अन्तर्याम' है। इस अन्तर्याम के होने पर मनुष्य का ज्ञानैश्वर्य बढ़ता है और यह 'मघवन्' बन जाता है। इस ज्ञान (ऋतम्भरा प्रज्ञा) के प्राप्त होने पर मनुष्य वास्तविक आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—योग द्वारा मनोनिरोध होने पर 'मस्तिष्क, मन व शरीर' सुन्दर बनते हैं। अवर व पर सब देवों से मित्रता होती है। ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कर हम आनन्द प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—गोतमः। **देवता**—योगी। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

उदान

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्यऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यऽउदानाय त्वा॥६॥

पिछले मन्त्र में योग द्वारा मन को अन्दर ही रोकने का उल्लेख था। इस मनोनिरोध के परिणामस्वरूप सोम की रक्षा होती है। इस सोमरक्षा के परिणाम का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में किया गया है। १. **स्वाङ्कृतः असि**=हे सोम! तू स्वयं कृत है, अर्थात् उस प्रभु की व्यवस्था से शरीर में तेरा स्वयं ही उत्पादन होता रहता है। तेरा उत्पादन **विश्वेभ्यः**=सब **इन्द्रियेभ्यः**=इन्द्र (आत्मा) की शक्तियों के लिए हुआ है। सब शक्तियों का मूल यह सोम ही है, चाहे वे शक्तियाँ **दिव्येभ्यः**=मस्तिष्करूप द्युलोक-सम्बन्धी हैं और चाहे **पार्थिवेभ्यः**= शरीररूप पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं। जहाँ यह सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त बनाता है वहाँ यह शरीर को भी दृढ़ बनाता है। २. **मनः**=मनन-शक्ति व ज्ञान **त्वा**=तुझे **अष्टु**=व्याप्त करे, अर्थात् इस सोमरक्षा से हे गोतम! तू सचमुच गोतम बन जाए। तुझे उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त हो, अतः सोमरक्षा के लिए स्वाहा (सु आह) तू उत्तमता से प्रभु के नाम का उच्चारण कर। ३. **सुभव**=हे उत्तम सात्त्विक पदार्थों से उत्पन्न सोम! मैं **त्वा**=तुझे **सूर्याय**=मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्योदय के लिए सुरक्षित करता हूँ। **त्वा**=तुझे **देवेभ्यः** =दिव्य गुणों की उत्पत्ति के लिए सुरक्षित करता हूँ, **मरीचिपेभ्यः**=ज्ञान की किरणों के पान के लिए तुझे सुरक्षित करता हूँ और अन्ततः **उदानाय त्वा**=उदानवायु की ठीक रक्षा के लिए तेरा स्वीकार करता हूँ। इस उदानवायु ने ही अन्ततः मुझे उत्थान की ओर ले-चलना है। प्राणों का संयम करके उदानवायु से ऊर्ध्व गति करता हुआ मैं अन्त में ब्रह्मरन्ध्र से निकलने में समर्थ होऊँगा और प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनूँगा।

भावार्थ—मैं सोमरक्षा द्वारा उदानवायु को सिद्ध करनेवाला बनूँ और अन्ततः मोक्ष प्राप्त करूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—वायुः। **छन्दः**—निचृज्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

पूर्व-पेय

आ वायो भूष शुचिपाऽउप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार।
उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा॥७॥

गत मन्त्र में गोतम ने वीर्यरक्षा द्वारा उदानवायु की साधना की थी। इस प्रकार संयमी जीवनवाला यह 'वसिष्ठ' बनता है। प्रभु इस वसिष्ठ से कहते हैं—१. **वायो**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले वसिष्ठ! **आभूष**=तू सब प्रकार से अपने

को सुभूषित कर। तेरा शरीर स्वास्थ्य से, मन नैर्मल्य से और बुद्धि तीव्रता से अलंकृत हो। २. **शुचिपाः**=तू अत्यन्त शुद्धता को पालनेवाला हो। तेरा जीवन पवित्र-ही-पवित्र हो। ३. हे **विश्ववार**=सब गुणों के स्वीकार करनेवाले वसिष्ठ! **नः**=हमारे **सहस्रम्**=हज़ारों **नियुतः**=(नियुज्यन्ते ये तान् निश्चितान् शमादिगुणान्—द०) शम आदि गुणों को **आभूष**=अपने में सजा, अर्थात् इन गुणों के धारण से अपने जीवन को अलंकृत कर और **ते**=तेरे ये गुण तुझे **नः उप**=हमारे समीप लानेवाले हों। ४. अब वसिष्ठ प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! मैं **ते**=तेरे **मद्यम्**=आनन्द देनेवाले **अन्धः**=आध्यायनीय सोमरूप अन्न को **उ उप अयामि**=निश्चय से समीपता से प्राप्त होता हूँ। इस सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता हूँ। उस सोम को **यस्य**=जिसके **पूर्वपेयम्**=पालन व पूरण करनेवाले पान को हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **दधिषे**=आप हमारे लिए धारण करते हैं, अर्थात् जिसका पान व रक्षण हम आपकी कृपा से कर पाते हैं। ५. हे सोम! मैं **वायवे त्वा**=वायु बन सकूँ, इसलिए तेरा स्वीकार करता हूँ कि वायु=गतिशीलता के द्वारा मैं सब बुराइयों का दूर करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा शतशः शमादि गुणों से अपने जीवनों को अलंकृत करें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रावायू। **छन्दः**—आर्षीगायत्री [क], स्वराडार्षीगायत्री [ख]। **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्र+वायु

[क]इन्द्रवायूऽइमे सुताऽउप प्रयोभिरागतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि।
उपयामगृहीतोऽसि वायवऽइन्द्रवायुभ्यां त्वैष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वा॥८॥

सोमरक्षा के विषय को ही प्रस्तुत मन्त्र में इन शब्दों में कहते हैं कि १. **इन्द्रवायू**=हे इन्द्र और वायु! **इमे**=ये सोमकण **सुताः**=तुम्हारे अन्दर उत्पन्न किये गये हैं। **प्रयोभिः**=सात्त्विक भोजनों (food) से तथा आनन्दमयी मनोवृत्ति (delight, pleasure) से तथा त्याग की भावना (sacrifice) से **उप आगतम्**=इन सोमकणों को समीपता से प्राप्त करो। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रियता का संकेत करता है और 'वायु' शब्द क्रियाशीलता का। सोमकण इन्द्र और वायु के लिए उत्पन्न किये गये हैं। जितेन्द्रिय और क्रियाशील पुरुष ही इनकी रक्षा कर पाता है। इनकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि मनुष्य सात्त्विक भोजनों का प्रयोग करे (प्रयस्), सदा प्रसन्नता को धारण करे (प्रयस्) तथा त्याग की भावनावाला हो (प्रयस्)। यह त्याग की भावना ही उसे विलासमय जीवन से बचाएगी। २. हे इन्द्र और वायो! **इन्दवः**=ये शक्ति देनेवाले सोमकण **वाम् उ**=आप दोनों को ही निश्चय से **उशन्ति**=चाहते हैं। सोमकण इन्हीं में सुरक्षित रहते हैं। 'जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता' सोमरक्षा के मुख्य उपाय हैं। ३. **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु के समीप (उप) निवास के द्वारा यम-नियमों से तू गृहीत है, योग के नियमों का तूने पालन किया है। **वायवे**=इस क्रियाशील पुरुष के लिए तू है। प्रभु कहते हैं कि हे सोम! **इन्द्रवायुभ्याम्**=इन्द्र और वायु के लिए ही मैंने **त्वा**=तुझे उत्पन्न किया है। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इस शरीर में ही तूने रहना है, इससे दूर नहीं होना। मनुष्य इस सोम की रक्षा के लिए प्रातः-सायं प्रभु चिन्तन करता हुआ यम-नियमों के पालन का प्रयत्न करे। यम-नियमों के पालन से ही मानव-जीवन में क्रियाशीलता और जितेन्द्रियता उत्पन्न होती है। ये क्रियाशील तथा जितेन्द्रिय पुरुष ही सोम की रक्षा करनेवाले होते हैं। ४. हे सोम! **सजोषोभ्यां त्वा**=समानरूप से मिलकर प्रीतिपूर्वक गृहकार्यों का सेवन करनेवाले पति-पत्नी के लिए मैं तुझे उत्पन्न करता हूँ (स=मिलकर

जुष्=प्रीति-सेवन)। जिस गृहस्थ में पति-पत्नी का समन्वय नहीं होता, उसमें दोनों का जीवन अनियन्त्रित-सा हो जाता है। उस अनियन्त्रित जीवन में दोनों का पतन होता है। जब पति-पत्नी मिलकर यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगते हैं तो वे एक-दूसरे को पतन से बचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्र=जितेन्द्रिय और वायु=क्रियाशील बनकर सोम की रक्षा करनेवाले बनें। यही मधुरतम कामना है। इस मधुर इच्छावाले हम 'मधुच्छन्दा' बनते हैं।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—आर्षीगायत्री [क], आसुरीगायत्री [ख]। **स्वरः**—षड्जः॥

मित्र+वरुण

[क]अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोमऽऋतावृधा। ममेदिह श्रुतꣳहवम्।
[ख]उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा॥९॥

१. गत मन्त्र में 'मधुच्छन्दा'=माधुर्य-ही-माधुर्य को अपनानेवाला, सभी का स्नेही (मित्र) तथा किसी से भी द्वेष न करनेवाला (वरुण) बनता है। यही प्रभु का सच्चा स्तवन है। यही जीवन के आनन्द का मूल है। सच्चा स्तवन करनेवाला और आनन्द को प्राप्त करनेवाला यह 'गृत्स-मद' कहलाता है। 'गृणाति+माद्यति'=स्तुति करता है, प्रसन्न रहता है। यही सोम की रक्षा कर पाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—स्नेह करनेवाले व द्वेष का निवारण करनेवाले! इस प्रकार **ऋतावृधा**=अपने में ऋत का वर्धन करनेवाले! **वाम्**=तुम दोनों पति-पत्नी के लिए **अयं सोमः**=यह सोम **सुतः**=उत्पन्न किया गया है। २. **इह**=मानव-जीवन में **इत्**=निश्चय से **मम**=मेरी **हवम्**=पुकार को, प्रेरणा को **श्रुतम्**=तुम सुनो। मुझसे प्रतिपाद्यमान सोम के महत्त्व को सुनो और इसकी रक्षा के लिए नितान्त प्रयत्नशील होओ। ३. **उपयामगृहीतः असि**=हे सोम! तू प्रभु-उपासन के द्वारा और यम-नियमों के द्वारा धारण किया जाता है। **मित्रावरुणाभ्यां त्वा**=मैं तुझे मित्र और वरुण के लिए ही उत्पन्न करता हूँ, अर्थात् इस सोम की रक्षा के लिए मित्र और वरुण बनना आवश्यक है।

भावार्थ—हम सबके साथ स्नेह करनेवाले, द्वेष से सदा दूर रहनेवाले बनकर सच्चे प्रभुभक्त बनें और प्रसन्नचित्त होकर सोमरक्षा में समर्थ हों।

ऋषिः—त्रसदस्युः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऋत और आयु

राया वयꣳससवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा॥१०॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार जब हम सचमुच मित्र व वरुण बनकर प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं तब प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'त्रसदस्यु' बनते हैं। त्रस=डरते हैं दस्यु=दुष्टभाव जिससे। जिसमें आसुर वृत्तियाँ बिल्कुल नहीं होतीं, ऐसे त्रसदस्यु बनकर **वयम्**=हम **राया**=धन से **ससवांसः**=संभक्त हुए-हुए, अर्थात् संविभागपूर्वक धन को प्राप्त हुए-हुए **मदेम**=इस प्रकार आनन्द अनुभव करें जैसेकि **देवाः**=देव **हव्येन**=हव्य पदार्थों से प्रसन्न होते हैं और **गावः**=गौ आदि पशु **यवसेन**=अपने चारे (fodder) से प्रसन्न होते हैं। अथवा जब हम धन प्राप्त करें तो उस धन में से देवताओं को भी हव्य प्राप्त हो और गौवों

को भी यवस प्राप्त हो। हमारे धन में देवों व गवादि पशुओं का भी भाग हो। यही देवयज्ञ व बलिवैश्वदेव यज्ञ कहलाते हैं। २. प्रभु इन मित्र और वरुण बननेवालों से कहते हैं कि हे **मित्रावरुणा**=स्नेह करनेवाले व द्वेष को दूर भगानेवाले! **युवम्**=तुम **नः तां धेनुम्**=हमारी वेदवाणीरूप गौ को **अनपस्फुरन्तीम्**=मन में फुरती हुई को **विश्वाहा**=सदा **धत्तम्**=धारण करो। तुम्हें वेदवाणी स्पष्ट हो। तुम वेदवाणीरूप धेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाले बनो। ३. इस वाणी के स्फुरण के लिए आवश्यक है कि हम सोम की रक्षा करनेवाले बनें, अतः प्रभु कहते हैं कि हे सोम! **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरी योनि है, उत्पत्ति व निवासस्थान है। इस शरीर में ही तूने रहना है। **त्वा**=तुझे **ऋतायुभ्याम्**=ऋत और आयु के लिए इस शरीर में स्थपित करता हूँ। शरीर में 'सब क्रियाएँ ठीक-ठीक चलें और दीर्घ जीवन प्राप्त हो' इसीलिए सोम का उत्पादन हुआ है। ऋत और आयु शब्द मित्र और वरुण के लिए भी प्रयुक्त होते हैं, अतः मित्र और वरुण के लिए तुझे स्थापित करता हूँ। (मित्राः ऋतं वरुण एव वायुः—श० ४।१।४।१०) अथवा ऋत को चाहनेवाले पति-पत्नी के लिए तुझे स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षा द्वारा हमारा जीवन ऋतमय हो और हम दीर्घायुष्य प्राप्त करें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—ब्राह्म्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

माधुर्यमयी वाणी

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती। तया यज्ञं मिमिक्षतम्।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा॥११॥

१. पिछले मन्त्र में 'मित्रावरुणौ' का प्रकरण था—'सबके साथ स्नेह करनेवाले, द्वेष न करनेवाले'। उन्हीं से कहते हैं कि **या**=जो **वाम्**=आप दोनों **अश्विना**=पति-पत्नी की **मधुमती**=माधुर्यवाली तथा **सूनृता-वती**=उत्तमता से दुःखों का परिहाण करनेवाली ऋत, अर्थात् सत्य **कशा**=वाणी है **तया**=उससे **यज्ञम्**=यज्ञ को **मिमिक्षतम्**=खूब सिक्त कर दो। आपका जीवन यज्ञमय हो। यज्ञ के लिए ही आपका संयोग हुआ है। वह यज्ञ बड़ी मधुर वाणी को लिये हुए हो। उस यज्ञ में मधुर शब्दों का ही प्रयोग हो। २. हे सोम! तू **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु के समीप निवास द्वारा धारण किये गये यम-नियम से धारण किया जाता है, अर्थात् तेरी रक्षा के लिए यम-नियमों का पालन आवश्यक है। **अश्विभ्यां त्वा**=तुझे मैंने पति-पत्नी के लिए, अर्थात् उनके कार्यों को सुचारुरूपेण चलाने के लिए स्थापित किया है। ३. **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा घर है। इसी में तूने व्याप्त होकर रहना है। **माध्वीभ्यां त्वा**=तुझे मैंने शरीर में इसलिए स्थापित किया है कि पति-पत्नी दोनों का जीवन बड़े माधुर्य को लिये हुए हो। सुरक्षित सोम जीवन में माधुर्य को उत्पन्न करने का कारण बनता है। 'अश्विना' शब्द प्राणापान के लिए भी प्रयुक्त होता है। तब अर्थ होगा कि यह सोम प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के लिए स्थापित हुआ है और प्राणापान की शक्ति की वृद्धि के द्वारा यह माधुर्य को जन्म देने के लिए है। वस्तुतः 'मेधातिथि'=(मेधया अतति) समझदार वही है जो सोमरक्षा द्वारा प्राणापान की शक्ति को बढ़ाता है और परिणामतः अपने जीवन व वाणी को माधुर्यमय बनाता है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा द्वारा वाणी को मधुर बनाएँ। हमारे यज्ञ मधुर वाणी से सम्पन्न हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीजगती[क], पङ्क्तिः[ख]।
स्वरः—निषादः[क], पञ्चमः[ख]॥

दोहन या वीरता (वीरता-दोहन)

[क]तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳस्वर्विदम्। प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे। [ख]उपयामगृहतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि॥१२॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार पूर्ण मधुर जीवन बनाने के लिए कहते हैं कि **तम्**=उस प्रभु को जोकि **ज्येष्ठतातिम्**=ज्येष्ठता का विस्तार करनेवाले हैं, उपासक के जीवन को अधिकाधिक प्रशस्त बनानेवाले हैं, **बर्हिषदम्**=वासनाशून्य हृदयाकाश में विराजनेवाले हैं, **स्वर्विदम्**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं, **प्रतीचीनम्**=अविद्यादि दोषों के प्रतिकूल हैं, अर्थात् अविद्यादि से हमें दूर ले-जानेवाले हैं **वृजनम्**=जो बलरूप हैं, अर्थात् जिसकी उपासना से उपासक शक्ति का अनुभव करता है **धुनिम्**=सब दोषों को कम्पित करके दूर करनेवाले हैं **आशुम्**=शीघ्रता से कार्यसिद्धि देनेवाले हैं **जयन्तम्**=सदा विजयी हैं, अर्थात् हमारे कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, उस प्रभु को **प्रत्नथा**= प्राचीनकाल की भाँति **पूर्वथा**=अपने से पहले होनेवाले योगियों की भाँति **विश्वथा**=अन्य सब देवों की भाँति **ईमथा**=वर्त्तमान काल के योगियों की भाँति **दोहसे**=तू अपने अन्दर दोहन करता है, अर्थात् उस प्रभु की भावना को अपने अन्दर भरता है। **अनुयासु**=इन दोहन-क्रियाओं के अनुसार ही **वर्धसे**=तू बढ़ता है, जितना-जितना तू अपने में प्रभु का दोहन करता है उतना-उतना तेरा वर्धन होता है, उतना-उतना ही तू वासनाओं को जीतकर आगे बढ़ता चलता है।
२. उपासक के हृदयाकाश में आसीन प्रभु शरीर में उत्पादित सोमशक्ति से कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना के द्वारा धारण किये गये यम-नियमों से गृहीत होता है। **शण्डाय त्वा**=शमादि गुणयुक्त पुरुष के लिए मैं तुझे शरीर में उत्पन्न करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह शरीर ही तेरा निवासस्थान है, तूने शरीर में ही रहना है, शरीर में व्याप्त होकर तू उस पुरुष को शमादि गुणयुक्त करता है। ३. **वीरतां पाहि**=तू इस शान्त पुरुष की वीरता की रक्षा कर। **शण्डः**=यह शमादि गुणयुक्त पुरुष **अपमृष्टः**=सब मलों के दूरीकरण से शुद्ध कर दिया जाए। **शुक्रपाः**=वीर्य की रक्षा करनेवाले **देवाः**=विद्वान् लोग **त्वाम्**=तुझ वीरता को **प्रणयन्तु**=प्रकर्षेण अपने में प्राप्त कराएँ। **अनाधृष्टा असि**=तू वासनाओं से धर्षित नहीं होती। वीरता के साथ सब सद्गुणों का वास है, वीरता ही virtue है। अवीरता के साथ evil आती है। वीर पुरुष कामादि से धर्षित नहीं होता।

भावार्थ—हम योगक्रियाओं द्वारा सोम की रक्षा करें। सुरक्षित सोम से हमारी वीरता बढ़े और हम वासनाओं से धर्षित न हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यागायत्री[ख]।
स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[ख]॥

शमादि गुणयुक्त पुरुष

[क]सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रःशुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः [ख]शुक्रस्याधिष्ठानमसि॥१३॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार अपने में वीरता का पूरण करनेवाला **सुवीरः**=उत्तम वीर **वीरान्**=(virtues, उत्कृष्टगुणान्—द०) उत्तम गुणों को **प्रजनयन्**=अपने में विकसित करता हुआ तू **परीहि**=सर्वतः प्राप्त हो। २. **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से तू **यजमानम्**=यज्ञ करनेवाले को, अर्थात् दानादि उत्तम कार्यों के करनेवाले को **अभि**=लक्ष्य करके **परीहि**=प्राप्त हो, अर्थात् तू धन-धान्य से समृद्ध होकर यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाला बन। ३. **दिवा**=देदीप्यमान मस्तिष्क से तथा **पृथिव्या**=(प्रथ विस्तारे) विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर से **संजग्मानः**=सङ्गत हो, अर्थात् तेरा मस्तिष्क ज्ञानज्योति से चमके तो तेरा शरीर सब शक्तियों के विस्तारवाला होता हुआ. सचमुच 'पृथिवी' हो। ४. **शुक्रः**=तू वीर्य का पुञ्ज बन। **शुक्रशोचिषा**=पवित्र करनेवाले वीर्य की दीप्ति से तू **निरस्तः**=अपमृष्टः=सब मलिनताओं को दूर करके पूर्ण शुद्ध बन। ४. पूर्ण शुद्ध बना हुआ यह **शण्डः**=शमादि गुणयुक्त पुरुष **शुक्रस्य**=इस जीवन को पवित्र करनेवाले सोम का **अधिष्ठानम्**=आधार **असि**=है। शमादि गुण वीर्यरक्षा में सहायक होते हैं। इसी से शान्त पुरुष वीर्य का अधिष्ठान बनता है। वीर्य शमादि गुणों का जनक है तो शमादि गुण वीर्यरक्षा में सहायक हैं। इसी दृष्टिकोण से ब्रह्मचारी के लिए सौम्य होना आवश्यक है और क्रोध वर्जित है।

भावार्थ—१. वीर्यरक्षा से वीर बनकर मनुष्य अपने में सद्गुणों का पोषण करता है। २. धन की वृद्धि करके यज्ञशील बनता है। ३. देदीप्यमान मस्तिष्क व विस्तृत शक्तिवाले शरीर को प्राप्त करता है। ४. सब मालिन्यों से दूर होता है और ५. शमादि गुणों से युक्त होता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

प्रथमा संस्कृति

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा सꣳस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥१४॥

१. गत मन्त्र का शमादि गुणयुक्त पुरुष प्रार्थना करता हुआ कहता है कि हे **देव सोम**=दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाले सोम! हम **ते**=तेरे **अच्छिन्नस्य**=कभी विच्छिन्न न होनेवाले **सुवीर्यस्य**=उत्तम वीरता से युक्त **रायस्पोषस्य**=धन के पोषण के **ददितारः**=(दधितारः) धारण करनेवाले **स्याम**=हों। हम सोम की रक्षा के द्वारा उत्तम शक्ति को प्राप्त करें, उत्तम धनों को धारण करनेवाले बनें। ३. (क) अविच्छिन्नरूप से हम वीर्य को धारण करनेवाले बनें, (ख) धनों को प्राप्त करके यज्ञादि उत्तम कार्यों के लिए दान करनेवाले हों। **सा**=इन दोनों बातों का पालन करना ही **प्रथमा**=प्रमुख अथवा हमारे जीवनों व शक्तियों का विस्तार करनेवाली **संस्कृतिः**=संस्कृति (culture) है। यह संस्कृति **विश्ववारा**=सबसे वरने के योग्य है। सभी को इस संस्कृति को अपनाना चाहिए, अथवा यह **विश्ववारा**=सब वरणीय वस्तुओंवाली है। इस संस्कृति से हमारे अन्दर सब इष्ट गुणों की उत्पत्ति होती है। ४. **सः**=वह—इस संस्कृति को अपनानेवाला व्यक्ति **प्रथमः**=अपनी सब शक्तियों का विस्तार करता है, अतएव समाज में मुख्य—प्रथम स्थान में स्थित होता है। **वरुणः**=यह सब द्वेषों व अन्य बुराइयों का निवारण करनेवाला होता है और इस प्रकार 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः' श्रेष्ठ जीवनवाला होता है। **मित्रः**=यह सभी के साथ स्नेह करता है 'प्रमीतेः त्रायते' और अपने को पापरूप मृत्युओं से बचाता है, तथा **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है।

भावार्थ—सबसे स्वीकार करनेयोग्य संस्कृति यही है कि १. हम अविच्छिन्न वीर्य

को धारण करनेवाले बनें, शक्ति की रक्षा करें। २. और दान दिये जानेवाले (रा दाने) धन के पोषक हों।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः ॥

आग्नीत् की मधुर वाणी

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्माऽइन्द्राय सुतमा जुहोत स्वाहा।
तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहायाऽग्नीत् ॥१५॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार संस्कृति को अपनानेवाला **सः**=वह व्यक्ति **प्रथमः**=अपनी सब शक्तियों का विस्तारक होता है। २. यह **बृहस्पतिः**=बृहती वेदवाणी का पालक बनता है—विद्यायुक्त वाणी का अधिष्ठाता होता है। सर्वोच्च ऊर्ध्वा दिशा का यह अधिपति होता है। ३. **चिकित्वान्**=विज्ञानवान् अथवा 'कित निवासे रोगापनयने च'=उत्तम निवासवाला या नीरोग होता है। ४. हे विश्वेदेवा! तुम **तस्मा इन्द्राय**=इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता के लिए **सुतम्**=ऐश्वर्य को **आजुहोत**=सर्वथा दो। **स्वाहा**=यही सु+हा=उत्तम त्याग है। देवों का सर्वोत्तम दान यही है कि वे जितेन्द्रिय पुरुष को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। ५. इन इन्द्रवृत्तिवाले लोगों को **होत्राः**=वाणियाँ **तृम्पन्तु**=तृप्त करें, **यत्**=जो वाणियाँ **मध्वाः**=माधुर्य से युक्त हैं और **याः**=जो **स्विष्टाः**=(सु इष्टाः) अत्यन्त वाञ्छनीय हैं **याः**=जो **सुप्रीताः**=(प्रीञ् तर्पणे) उत्तम तृप्ति देनेवाली हैं **सुहुताः**=जिन वाणियों से उत्तम यज्ञादि कर्म किये जाते हैं। ६. **यत्**=क्योंकि **अग्नीत्**=(अग्निमिन्धे) अग्नि को समिद्ध करनेवाला व्यक्ति **स्वाहा**=उत्तम वाणियों के द्वारा (सत्यवाणी से—द०) **अयाट्**=यज्ञों को करता है अथवा सभी को सत्कृत करता है (यज्=देवपूजा)। **अग्नीत्**=अग्नि को समिद्ध करता है, अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों को करता है तथा प्रभुरूप अग्नि को अपने हृदय में देखने का प्रयत्न करता है। सर्वत्र प्रभु को देखनेवाला यह व्यक्ति सभी के साथ मधुर वाणियों का प्रयोग करता है।

भावार्थ—प्रभुरूप अग्नि को समिद्ध करनेवाला सदा मधुर वाणी का प्रयोग करता है, मधुर सत्यवाणी से ही सबका सत्कार करता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्[क], साम्नीगायत्री[ख]। **स्वरः**—धैवतः[क], षड्जः[ख]॥

शक्ति व शान्ति का समन्वय

[क]अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाꣳसङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति। [ख]उपयामगृहीतोऽसि मर्कीय त्वा॥१६॥

१. **अयम्**=गत मन्त्र में वर्णित मधुर वाणियोंवाला यह व्यक्ति ही **वेनः**=मेधावी है (नि० ३।१५)। यह **पृश्निगर्भाः**=(पृश्निः आदित्यो गर्भे येषाम्) आदित्य के समान ज्योति है गर्भ में जिनके, अर्थात् ज्ञान से परिपूर्ण वाणियों को **चोदयत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् इसकी वाणियाँ सदा ज्ञान के प्रकाशवाली होती हैं। २. यह **रजसो विमाने**=रजोगुण के विशिष्ट रूप से निर्माण के निमित्त **ज्योतिर्जरायुः**=ज्योतिरूप वेष्टन व आच्छादनवाला होता है। यह ज्ञान को अपना आवरण बनाता है और परिणामतः रजोगुण को विशिष्ट परिमाण में अपने अन्दर विकसित होने देता है। ज्ञान के कारण इसका रजोगुण उच्छृंखल न होकर सदा नियन्त्रित होता है। ३. **इमम्**=इस वेन (मेधावी) को **अपाम्**=जलों, **सूर्यस्य**=सूर्य व

तेज का **सङ्गमे**=सङ्गम होने पर, अर्थात् शान्ति (=जल) व शक्ति (=सूर्य-तेज) का समन्वय होने पर **शिशुं न**=शिशु के समान अर्थात् पुत्रवत् प्रेम करते हुए **विप्राः**=ज्ञानी लोग **मतिभिः**=ज्ञानों से **रिहन्ति**=सत्कृत करते हैं (रिहन्तीत्यर्चतिकर्मसु-नि० ३।१४), अर्थात् शान्ति व शक्ति का अपने में समन्वय करनेवाले इस मेधावी को जो **शिशुं न**=एक अबोध बालक के समान निर्दोष है, ज्ञानी लोग प्रेम से ज्ञान देते हैं। आचार्यों का विद्यार्थी को ज्ञान देना ही अर्चन है। ४. **उपयामगृहीतः असि**=हे वेन! तू उपयामगृहीत है, प्रभु की उपासना द्वारा यम-नियमों से युक्त है। **मर्काय त्वा**=(मर्च गतौ) मैं तुझे गतिशीलता के लिए प्रेरित करता हूँ। यह गतिशीलता ही तुझे पवित्र बनाएगी और तू प्रभु का उपासक बनकर यम-नियमों का पालन करनेवाला हो सकेगा।

भावार्थ—मेधावी पुरुष ज्ञान को अपना आच्छादन बनाता है। यह अपने जीवन में शान्ति व शक्ति का मिश्रण करता है। ज्ञानी इसे प्रेम से ज्ञान प्राप्त कराते हैं और यह गतिशील बनकर प्रभु का उपासक होता हुआ यम-नियमों का पालन करता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मनो विजय

मनो॒ न येषु॑ हव॑नेषु ति॒ग्मं विप॒ः शच्या॑ वनु॒थो द्रव॑न्ता।
आ यः शर्या॑भिस्तुवि॒नृ॒म्णोऽअ॒स्याश्री॑णीता॒दिश॑ं गभ॑स्तावे॒ष ते॒ योनि॑ः
प्र॒जाः पा॒ह्यप॑मृष्टो॒ मर्को॑ दे॒वास्त्वा॑ मन्थि॒पाः प्र॑णय॒न्त्वना॑धृष्टासि॥१७॥

गत मन्त्र में प्रभु की उपासना के द्वारा वेन अपने जीवन को अत्यन्त सुन्दर बनाने का निश्चय करता है। 'इन प्रभु-उपासनाओं से क्या होता है?' यह बात प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **येषु हवनेषु**=जिन प्रभु के पुकारने के समयों पर अथवा प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने के अवसरों पर **विपः**=मेधावी पति-पत्नी **मनः**=अपने मन को, जो मन **न तिग्मम्**=तेज़ नहीं है, अर्थात् जो शान्त है, उसे **शच्या**=प्रज्ञापूर्वक **द्रवन्ता**=गति करते हुए **वनुथः**=जीतते हैं। २. उपासना से मन शान्त होता है, मनुष्य सब क्रियाओं को बुद्धिमत्तापूर्वक करता है, अन्त में मन को पूर्णरूप से जीत लेता है। यह मनोविजेता वह है **यः**=जो **आशर्याभिः**=(शॄ हिंसायाम्) सब बुराइयों की हिंसा के द्वारा **तुविनृम्णः**=महान् बलवाला है। **अस्य**=इसकी **गभस्तौ**=ज्ञान-किरणों में **आदिशम्**=(दिशायाम् दिशायाम्) प्रत्येक दिशा में **आश्रीणीत**=अपने को परिपक्व करो। जिसने स्वयं मन को जीता है, उसके अनुभवों से पूर्ण लाभ लेते हुए अन्य लोग भी अपनी शक्तियों का परिपाक करें। ३. **एषः ते योनिः**=हे सोम! जिस तेरी रक्षा पर ही सब उन्नतियाँ निर्भर करती हैं, उस तेरा यह शरीर ही घर है। इस शरीर में ही व्यापक होकर तूने रहना है। ४. शरीर में रहकर **प्रजाः पाहि**=सब प्रजाओं का तू पालन कर। तेरे निवास से ही यह **मर्कः**=शरीर **अपमृष्टः**=बुराइयों के सुदूर विध्वंस के द्वारा शुद्ध कर दिया जाता है। ५. इसीलिए **मन्थिपाः**=सोम की रक्षा करनेवाले **देवाः**=देव **त्वा**=तुझे **प्रणयन्तु**=शरीर में विशेष रूप से प्राप्त कराएँ। हे शुक्रशक्ते! तू **अनाधृष्ट असि**=अपराजेय है। तेरे होने पर शरीर में किसी रोगादि का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु-उपासना से मन शान्त होता है। जीवन शुद्ध होता है। यह शुक्रशक्ति अपराजेय है। इसकी रक्षा से ही शरीर निर्दोष होता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्[क], प्राजापत्यागायत्री[ख]। स्वरः—धैवतः[क], षड्जः[ख]॥

सु-प्रजाः

[क]सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्को [ख]मन्थिनोऽधिष्ठानमसि॥१८॥

१. गत मन्त्र का मनोविजेता **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाला होता है। यह **प्रजाः**=प्रजाओं को **प्रजनयन्**=विकसित करनेवाला होता है। २. यह **यजमानम्**=इस सृष्टि-यज्ञ को रचनेवाले प्रभु को **अभिरायस्पोषेण**=आन्तर व बाह्य सम्पत्ति के पोषण से **परीहि**=प्राप्त होता है। प्रभु की प्राप्ति का उपाय यही है कि मनुष्य बाह्य सम्पत्ति, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य का सम्पादन करे और साथ ही आन्तर सम्पत्ति पवित्रता व ज्ञान को सिद्ध करे। 'स्वस्थ, पवित्र व ज्ञानी' पुरुष ही प्रभु-प्राप्ति का अधिकारी होता है। ३. **दिवा**=ज्ञान की ज्योति से तथा **पृथिव्या**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर से **संजग्मानः**=सङ्गत हुआ-हुआ तू **मन्थी**=शत्रुओं का मथन करनेवाला होता है। ४. **मन्थिशोचिषा**=रोगकृमियों का मथन करनेवाले सोम की दीप्ति से **मर्कः** =यह देह **निरस्तः**=(अपमृष्टः) सब दोषों को दूर फेंकनेवाला होता है (असु क्षेपणे)। ५. हे सुप्रजाः! तू इसी दृष्टिकोण से **मन्थिनः**=सोम का **अधिष्ठानम् असि**=अधिष्ठान बनता है। वस्तुतः 'सुप्रजाः' का 'सुप्रजास्त्व' इस सोम के कारण ही है। १३ वें मन्त्र में इसे ही 'सुवीर' शब्द से स्मरण किया गया था। वहाँ सोम के लिए 'शुक्र' शब्द का प्रयोग था।

भावार्थ—वीर्यरक्षा से मनुष्य 'सुप्रजाः' होता है, स्वस्थ व ज्ञानी बनकर प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है, निर्दोष शरीरवाला बनता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

तेतीस (३३) देव

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥१९॥

गत मन्त्र की भावना को जीवन में अनूदित करके जब मनुष्य अपने जीवन को पवित्र व यज्ञमय बनाता है तब वह इस प्रकार प्रार्थना करने का अधिकारी होता है कि—१. **ये**=जो **दिवि**=द्युलोक में—मस्तिष्क में **एकादश**=ग्यारह **देवासः स्थ**=देव हो और **पृथिव्याम् अधि**=इस पृथिवी पर, स्थूलशरीर में, **एकादश स्थ**=जो ग्यारह देव हो तथा **महिना**=(महिम्ना) अपनी महिमा से **अप्सुक्षितः**=अन्तरिक्ष में, हृदयाकाश में, रहनेवाले **एकादश स्थ**=ग्यारह देव हो, **ते देवासः**=वे सब देव **इमं यज्ञम्**=मेरे इस यज्ञमय जीवन का **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। २. मेरा यह जीवन यज्ञमय हो और इसमें सब देवों का निवास हो। वस्तुतः जब हमारा जीवन देवों का निवासस्थान बनता है तभी यह परमात्मा का भी निवासस्थान बनने के योग्य होता है। उस महादेव के आने के लिए पहले देवों का आना आवश्यक है। देवों का आना महादेव के आने की तैयारी है। ३. द्युलोक के देवों का मुखिया सूर्य है। मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान-सूर्य का उदय हो। अन्तरिक्ष लोक के देवों का मुखिया वायु व विद्युत् हैं। मेरा हृदय भी वायुवत् निरन्तर क्रियाशीलता के संकल्प से भरा हुआ हो तथा सब वासनाओं को विद्युत् की तरह छिन्न-भिन्न करनेवाला हो। पृथिवीलोक में देवों का

मुखिया 'अग्नि' है। मेरा शरीर भी अग्नि की उष्णतावाला हो। एवं, सब देवों से युक्त होकर मैं सचमुच जीवन को यज्ञ का रूप दे डालूँ और यज्ञमय बनकर प्रभु का निवासस्थान बन जाऊँ।

भावार्थ—मेरा जीवन यज्ञरूप हो। यह देवों का आश्रम बने और प्रभु को प्राप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

आग्रयण

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः। पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि॥२०॥

१. गत मन्त्र के तेतीस देवों का अधिष्ठान बननेवाले व्यक्ति के लिए कहते हैं कि तू **उपयामगृहीतः असि** =प्रभु-उपासना के द्वारा यम-नियमों को धारण करनेवाला बना है। २. **आग्रयणः असि**=(अग्रे अयनं यस्य) तू अग्रगतिवाला है **सु आग्रयणः**=बड़ी उत्तमता से आगे बढ़नेवाला है। ३. तू अपने जीवन में **यज्ञं पाहि**=यज्ञ की रक्षा कर। तेरा जीवन यज्ञमय बना रहे। ४. **यज्ञपतिं पाहि**=तू यज्ञों के पालक प्रभु की रक्षा करनेवाला बन। प्रभु की रक्षा का अभिप्राय यह है कि तू इन यज्ञों को सिद्ध करके प्रभु को भूल न जाए। 'यज्ञपति विष्णु ही हैं' तूने इस बात को भूलना नहीं। ५. नहीं भूलने पर **विष्णुः**=सब यज्ञों के धारक प्रभु **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रियेण**=(इन्द्रियं वीर्यम्) शक्ति से **पातु**=रक्षित करते हैं। ६. इसलिए **त्वम्**=तू **विष्णुं पाहि**=उस प्रभु की रक्षा कर। उस प्रभु को कभी भूल नहीं। ७. प्रभु को न भूलता हुआ तू शक्ति-सम्पन्न बनेगा और शक्ति-सम्पन्न बनकर **सवनानि** =यज्ञों को **अभिपाहि**= अन्दर-बाहर दोनों ओर सुरक्षित कर। बाहर के यज्ञ 'द्रव्ययज्ञ' हैं, अन्दर के यज्ञ 'ज्ञानयज्ञ'। तू दोनों को करनेवाला बन। ज्ञानयज्ञ उत्कृष्ट है। उसे तो करना ही है, पर द्रव्ययज्ञों की भी आवश्यकता है। द्रव्ययज्ञों से शरीर का शोधन होता है, ज्ञानयज्ञों से आत्मा का, अतः आग्रयण दोनों ही यज्ञों को करता है।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो, परन्तु हमें उन यज्ञों का गर्व न हो जाए। 'प्रभु ही सब यज्ञों के पति हैं' इस बात को हम भूलें नहीं।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्[क], याजुषीजगती[ख]। **स्वरः**—धैवतः[क], निषादः[ख]॥

पवित्रता

[क]सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवतऽइषऽऊर्जे पवतेऽदभ्यऽओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यऽ[ख]एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥२१॥

१. गत मन्त्र की मुख्य भावना यह है कि प्रभु ही सब यज्ञों के पति हैं। वस्तुतः जीव से समय-समय पर किये जानेवाले सब यज्ञों को करने की शक्ति उसे प्रभु ही देते हैं। प्रभु ने हमारे शरीरों में सोम-निर्माण की व्यवस्था की है। यह **सोमः**=सोम **पवते**=हमारे जीवनों को पवित्र करता है। इस वीर्य के द्वारा शरीर नीरोग रहता है, मन बुराइयों से बचा रहता है और मस्तिष्क दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनता है। एवं, सोम शरीर, मन व मस्तिष्क सभी

को पवित्र बनाता है। २. **अस्मै ब्रह्मणे**=इस ज्ञान के लिए **सोमः**=सोम **पवते** =हमें पवित्र करता है, **अस्मै क्षत्राय**=इन क्षतों से त्राण करनेवाले, रोगों के आघातों से बचानेवाले, बल के लिए यह सोम हमें पवित्र करता है तथा **अस्मै सुन्वते यजमानाय**=इस ऐश्वर्य का सम्पादन करनेवाले (सुवानाय) यजमान के लिए यह सोम हमें पवित्र करता है। इस सोम की रक्षा से जहाँ हम ऐश्वर्य कमाने की योग्यतावाले होते हैं, वहाँ उसका यज्ञों में विनियोग करने की रुचिवाले होते हैं। ३. यह सोम **पवते**=हममें गति करता हुआ हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है, जिससे **इषे**=हम प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें और **ऊर्जे**=बल तथा प्राणशक्ति से युक्त होकर उस प्रेरणा को क्रियारूप में ला सकें।

४. यह सोम हमारे अन्दर **अद्भ्यः**=जलों से तथा **ओषधीभ्यः**=वनस्पतियों से ही **पवते**=पवित्रता का सञ्चार करता है। जलों व वनस्पतियों से उत्पन्न वीर्य ही सात्त्विक वीर्य है। वही हमारे जीवनों को पवित्र करता है। मांसाहार से उत्पन्न वीर्य इस पवित्रता का साधक नहीं होता। इसे वेद में **'उष्णं वाः'**=उष्ण वीर्य कहा गया है और इसका शरीर में सुरक्षित होना सुगम नहीं है। ५. यह जलों व ओषधियों से उत्पन्न सोम **द्यावापृथिवीभ्याम्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्योतिर्मय तथा शरीररूप पृथिवी को दृढ़ बनाने के लिए **पवते**=हममें गति करता है। ६. इस प्रकार **सुभूताय**=यह सोम उत्तम स्थिति के लिए अथवा उत्तम ऐश्वर्य के लिए **पवते**=हममें गति करता है। ७. ठीक-ठीक बात यह है कि यह सोम **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए **त्वा**=तुझे **पवते**=पवित्र कर देता है। ८. **एषः ते योनिः**=यह सोम ही तेरी सब उन्नतियों का कारण है। यही **त्वा**=तुझे **विश्वेभ्यः देवभ्यः**=सब दिव्य गुण प्राप्त कराता है।

भावार्थ—शरीर के अन्दर जलों व ओषधियों से उत्पन्न वीर्य 'ज्ञान-बल-ऐश्वर्य' को बढ़ानेवाला होता है। यह शरीर व मस्तिष्क दोनों को सुन्दर बनाता हुआ सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

दिव्यता व यज्ञमय जीवन

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा बृह॒द्व॒ते॒ वय॑स्वत॒ऽउक्था॒व्यं॑ गृह्णामि।
यत्त॑ऽइन्द्र बृह॒द्व॒यस्तस्मै॑ त्वा॒ विष्णो॑वे त्वै॒ष ते॒ योनि॑रु॒क्थेभ्य॑स्त्वा
दे॒वेभ्य॑स्त्वा देवा॒व्यं॑ य॒ज्ञस्या॑यु॒षे गृ॑ह्णामि॥२२॥

१. गत मन्त्र में जलों व ओषधियों से उत्पन्न सोम का वर्णन था। उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **उपयामगृहीतः असि**=प्रभु-उपासन के द्वारा तू यम-नियमों से स्वीकृत है। मैं **त्वा**=तुझे, जो तू **उक्थाव्यम्**=(उक्थम् अवति) प्रशंसनीय वस्तुओं की रक्षा करनेवाला है **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। क्यों? (क) **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए अथवा शत्रुओं के विदारण के लिए। सोम की रक्षा से ही ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त होता है, और हम रोगकृमि आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले बनते हैं। (ख) **बृहद्वते**=(बृहन्ति प्रशस्तानि कर्माणि विद्यन्ते यस्मिन्) प्रशस्त कर्मोंवाले जीवन के लिए। सोमरक्षा से हमारी प्रवृत्तियाँ सुन्दर बनी रहती हैं और परिणामतः हमारे कार्य भी सुन्दर होते हैं। (ग) **वयस्वते**=प्रशस्त जीवन के लिए। 'सोम रक्षा से ज्ञान व स्वास्थ्य की वृद्धि होकर जीवन उत्तम बनता है' इस बात में तो सन्देह है ही नहीं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो!

यत्=जो **ते**=तेरा **बृहद्वयः**=वृद्धिशील जीवन है **तस्मै**=उसके लिए मैं **त्वा**=आपको स्वीकार करता हूँ। **विष्णवे त्वा**=(यज्ञो वै विष्णुः) अपने जीवन को यज्ञात्मक रखने के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह सोम ही आपकी प्राप्ति का कारण है। ३. मैं **उक्थेभ्यः**=स्तोत्रों के लिए, प्रशंसनीय कर्मों के लिए **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **त्वा**=तुझे **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **देवाव्यम्**=(देवान् अवति) दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **यज्ञस्य**=यज्ञ के **आयुषे**=जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सोम की रक्षा के द्वारा मैं दिव्यता का साधन करता हुआ यज्ञमय जीवन बिताता हूँ।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा मेरा जीवन दिव्य व यज्ञमय बनता है।

ऋषिः—अवत्सारः काश्यपः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—अनुष्टुप्[१], प्राजापत्यानुष्टुप्[२], स्वराट्साम्न्यनुष्टुप्[३], भुरिगार्चीगायत्री[४], भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्[५]। **स्वरः**—गान्धारः[१.२.३.५], षड्जः[४]॥

'अग्नि-वरुण-बृहस्पति-विष्णु'

[१]मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[२]न्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[३]न्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[४]न्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[५]न्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि॥२३॥

१. पिछले मन्त्र की भावना को ही आगे चलाते हुए कहते हैं कि हे सोम! **देवाव्यम्**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले **त्वा**=तुझे **मित्रावरुणाभ्याम्**=स्नेह तथा द्वेष निवारण के लिए और इस प्रकार **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सोम की रक्षा से जहाँ मुझमें दिव्यता व यज्ञ की वृद्धि होती है वहाँ मेरा जीवन स्नेहवाला (मित्र) तथा द्वेष का निवारण करके (वरुण) निर्द्वेषता से पूर्ण होता है। २. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्राय**=जितेन्द्रियता के लिए, ज्ञानरूप परमैश्वर्य के लिए तथा **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ, अर्थात् इस सोम की रक्षा से मैं ज्ञानरूप परमैश्वर्य को सिद्ध करता हूँ। ३. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्राग्निभ्याम्**=बल व प्रकाश के लिए, और इस प्रकार **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए **गृह्णामि** =ग्रहण करता हूँ। इस सोम की रक्षा से मुझमें 'इन्द्र और अग्नि' का विकास होता है। इन्द्र 'बल' का प्रतीक है तो अग्नि 'प्रकाश' का। ४. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाले तुझे **इन्द्रावरुणाभ्याम्**=इन्द्र और वरुण के लिए, अर्थात् सब शत्रुओं का विदारण करने और श्रेष्ठ बनने के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। सोम के धारण से मुझमें बल की वृद्धि होती है। मैं कामादि शत्रुओं का संहार करता हूँ। इस प्रकार श्रेष्ठ बनता हूँ और **यज्ञस्य आयुषे**=मेरा जीवन यज्ञ का जीवन होता है।

५. हे सोम! **देवाव्यं त्वा**=दिव्य गुणों के रक्षक तुझे **इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्**=इन्द्र और बृहस्पति के लिए, अर्थात् शक्ति व ज्ञान के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। इस शक्ति व ज्ञान को **यज्ञस्य आयुषे**=यज्ञमय जीवन के लिए ग्रहण करता हूँ। ६. **देवाव्यं त्वा**=हे दिव्य गुणों के रक्षक सोम! तुझे **इन्द्राविष्णुभ्याम्**=इन्द्र और विष्णु के लिए—शक्तिशाली व व्यापक हृदयवाला बनने के लिए और शक्ति व उदारता से **यज्ञस्य**=यज्ञ के **आयुषे**=जीवन के लिए **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। ७. 'अग्नि' प्रकाश का सूचक है अथवा मलों को भस्म करने का

प्रतीक है। 'वरुण'=द्वेष-निवारण की सूचना दे रहा है, द्वेष-निवारण से ही मनुष्य श्रेष्ठ बनता है। 'बृहस्पति'=सर्वोच्च दिशा का अधिपति है, यह ज्ञानियों का भी ज्ञानी है। 'विष्णु' सबका धारक है। यह व्यापकता व उदारता का प्रतीक है। 'इन्द्र' इन सबके साथ जुड़ा हुआ है, यह शक्ति का प्रतीक है। 'अग्नित्व' आदि गुण शक्ति के साथ ही कार्यक्षम होते हैं। इन सब गुणों का मूल यह सोम है।

भावार्थ—हम सोमरक्षा के द्वारा 'अग्नि-वरुण-बृहस्पति व विष्णु' बनें। हममें इन्द्रशक्ति का विकास हो। हम सोम की रक्षा करनेवाले 'अवत्सार' बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

'भारद्वाज बार्हस्पत्य'

मूर्द्धानं॑ दि॒वोऽअ॑र॒तिं पृ॑थि॒व्या वै॑श्वान॒रमृ॒तऽआजा॒तम॒ग्निम्।
क॒विꣳस॒म्राज॒मति॑थिं॒ जना॑नामा॒सन्ना पात्रं॑ जनयन्त दे॒वाः॥२४॥

पिछले मन्त्रों का ऋषि 'अवत्सार' सोम की रक्षा करने के द्वारा 'भरद्वाज'=अपने में शक्ति को भरनेवाला 'बार्हस्पत्यः'=ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी बनता है। सोम को गत मन्त्र में 'देवाव्यम्'=दिव्य गुणों की रक्षा करनेवाला कहा है। **देवाः**=सोमरक्षा से सुरक्षित हुए-हुए ये देव **जनयन्त**=मनुष्य को प्रादुर्भूत करते हैं। किस रूप में? १. **मूर्धानं दिवः**=ज्ञान के शिखर को। सोमरक्षा से यह अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और उस दीप्त ज्ञानाग्नि से यह ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। २. **पृथिव्याः अरतिम्**=ज्ञानाग्नि के प्रदीप्त होने से यह पार्थिव भोगों के प्रति अत्यन्त लालायित नहीं होता। ज्ञानाग्नि में काम भस्म हो जाता है और यह ज्ञानी सांसारिक भोगों के प्रति रुचिवाला नहीं रहता। ३. ज्ञानी व अनासक्त बनकर यह **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों के हित के लिए कार्यों में प्रवृत्त रहता है। ४. **ऋते आजातम्**=यह ऋत में ही उत्पन्न हुआ होता है, अर्थात् इसके सब कार्य सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमितता को लिये हुए होते हैं। ५. **अग्निम्**=नियमित जीवन बिताते हुए यह आगे और आगे बढ़ता चलता है। ६. **कविम्**=यह 'कौति सर्वा विद्याः'=सब विद्याओं का उपदेश करता है। ७. **सम्राजम्**=यह अपना सम्राट् होता है, इन्द्रियों का पूर्ण अधीश होता है। ८. **जनानाम् अतिथिम्**=लोगों के प्रति निरन्तर जानेवाला होता है। उनके अज्ञानान्धकार को दूर करने का सतत प्रयत्न करता है। ९. **आसन् आपात्रम्**=मुख के द्वारा यह समन्तात् रक्षा करनेवाला होता है। मुख के द्वारा यह औरों पर ज्ञान का प्रकाश करता है और इस प्रकार उनकी रक्षा करता है।

भावार्थ—सोमरक्षा के द्वारा हम स्वयं ज्ञान के शिखर पर पहुँचें तथा औरों को यह ज्ञान देकर उनकी रक्षा करनेवाले बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। देवता—वैश्वानरः। छन्दः—याजुष्यनुष्टुप्[क], विराडार्षीबृहती[ख,ङ]। स्वरः—गान्धारः[क], मध्यमः[ख,ङ]॥

भरद्वाज का प्रभुभजन (उपासना व प्रेम)

[क]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि [ख]ध्रु॒वोऽसि ध्रु॒वक्षि॑तिर्ध्रु॒वाणां॑ ध्रु॒व॒तमोऽच्यु॑तानामच्यु॒तक्षि॑त्तमऽए॒ष ते॒ योनि॑र्वैश्वान॒राय॑ त्वा। [ङ]ध्रु॒वं ध्रु॒वेण॒ मन॑सा वा॒चा सोम॒मव॑नयामि। अथा॑ न॒ऽइन्द्र॒ऽइद्विशो॑ऽसप॒त्नाः सम॑नस॒स्क॑रत्॥२५॥

गत मन्त्र का 'भरद्वाज' प्रस्तुत मन्त्र में निम्न शब्दों में प्रभु का उपासन करता है—१. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा यम-नियमों के धारण से आप गृहीत होते हो, अर्थात् वही व्यक्ति आपका ग्रहण कर पाता है जो प्रातः-सायं आपके चरणों में बैठकर यम-नियमों को अपनाने का प्रयत्न करता है। २. **ध्रुवः असि**=हे प्रभो। आप ध्रुव हो! **ध्रुवक्षितिः**=(ध्रुवाः क्षितयो यस्मिन्) आपमें ही ये सब लोक-लोकान्तर ध्रुव हैं, स्थिर हैं। **ध्रुवाणां ध्रुवतमः**=हे प्रभो! आप ध्रुवों में भी ध्रुव हो। **अच्युतानाम्**=(च्युतिर क्षरणे) न नष्ट होनेवालों में **अच्युतक्षित्तमः**=आप अत्यन्त अविनश्वर निवासवाले हो। प्रकृति अविनश्वर है, परन्तु यह सदा विकृत होती रहती है। 'प्रकृति-विकृति' यह इसका क्रम ही हो गया है। जीव भी अविनश्वर है, परन्तु यह भी विविध भूमिकाओं में जाता रहता है। कभी गौ है तो कभी घोड़ा, कभी कोई पशु-पक्षी और कभी मनुष्य। प्रभु सदा 'एकरस' हैं, स्थाणु हैं, अचल हैं। उस अचल प्रभु में ही ये चलाचल लोक ध्रुव-से होकर रह रहे हैं। **'अच्युतानाम्'**—इस मन्त्रभाग में यह भावना भी निहित है कि वे प्रभु न डिगनेवाले हैं। किसी के बहकाने से वे बहक जाएँगे ऐसी बात नहीं है। मनुष्यों की भाँति वे कान के कच्चे नहीं हैं। वे अपनी व्यवस्था के अनुसार चलते हैं, सभी का भला चाहते हैं। २. भरद्वाज प्रभु से कहते हैं कि **एषः ते योनिः** =यह मेरा हृदय तेरा घर है। मैं चाहता हूँ कि मेरा हृदय आपका मन्दिर हो। मैं उसे निर्मल व प्रकाशमय करने का प्रयत्न करूँ। **वैश्वानराय त्वा**=हे प्रभो! मैं आपको अपने हृदय-मन्दिर में इसलिए बिठाता हूँ कि मुझमें सब मनुष्यों के हित की भावना प्रबल हो। ३. **ध्रुवम्**=अत्यन्त स्थिर **सोमम्**=अत्यन्त शान्त आपको **ध्रुवेण मनसा**=स्थिर मन से, निरुद्ध चित्तवृत्तिवाले चित्त से तथा **वाचा**=ज्ञानपरिपूर्ण वेदवाणी से **अवनयामि**=अपने में अवतरित करने का प्रयत्न करता हूँ। ४. **अथ**=अब, जब मैं निरुद्धवृत्तिवाले मन से और ज्ञान की वाणियों से प्रभु को अपने हृदय-मन्दिर में अवतीर्ण करता हूँ, तब **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः विशः**=हम प्रजाओं को **इत्**=निश्चय से **असपत्नाः**=सपत्नशून्य, शत्रुरहित और **समनसः**= समान मनवाला **करत्**=करे। वस्तुतः जब हमारे हृदयों में प्रभु का निवास होता है, उस समय परस्पर विरोध सम्भव ही नहीं। प्रभु-स्मरण करनेवाले लोग परस्पर मैत्री से चलते हैं, उनमें वैरभाव नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु यम-नियमों के पालन से गृहीत होते हैं। उस ध्रुवों में ध्रुव प्रभु को हम ध्रुव मन से ही प्राप्त कर सकते हैं। उस प्रभु का हृदय में प्रकाश होने पर सब वैरभाव समाप्त हो जाते हैं और प्रेम का प्रसार होता है। एवं, प्रस्तुत मन्त्र में १. प्रभु के स्वरूप का प्रतिपादन है, २. प्रभु-प्राप्ति के उपाय का वर्णन है, ३. और प्रभु-प्राप्ति के लाभों का उल्लेख है।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

देवों का उत्क्रमण

यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्तेऽअꣳशुर्ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थात्। अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतꣳस्वाहा देवानामुत्क्रमणमसि॥ २६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु को हृदय में उतारने का वर्णन था। प्रभु का यह अवतरण सोमरक्षा से ही हो सकता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **द्रप्स**=सोम! **यः**=जो **ते**=तेरा **अंशुः**=छोटा-सा भी कण (small particle) **स्कन्दति**=ऊर्ध्वगतिवाला होता है (ascends)

और ऊर्ध्वगतिवाला होकर जो तेरा कण **ग्रावच्युतः** =(प्राणाः वै ग्रावाणः श०, च्युत्=सेचन) प्राणों का सेचन करनेवाला है। **तम्**=उस कण को **धिषणयोः**=द्यावापृथिवी के निमित्त अर्थात् मस्तिष्क व शरीर के विकास के लिए तथा **उपस्थात्**=जननेन्द्रिय के स्वास्थ्य के हेतु से **वा**=अथवा **अध्वर्योः**=अध्वर्यु के **पवित्रात्**=पवित्र हृदय के उद्देश्य से **ते**=तेरे अन्दर **परिजुहोमि**=सारे शरीर में आहुत करता हूँ। इस सोमकण को शरीर में ही व्याप्त करता हूँ। २. यह सोमकण **मनसा**=मन से **वषट्कृतम्**=शरीर में आहुति दिया जाता है, अर्थात् मनोनिरोध ही एक उपाय है जिससे यह सोम शरीर से पृथक् नहीं होता। ३. **स्वाहा**=(सुहु) शरीर में सुहुत हुआ-हुआ यह सोम **देवानाम्**=देवों का, दिव्य गुणों का, **उत् क्रमणम्**=ऊर्ध्वगति-उन्नति करनेवाला **असि**=होता है।

प्रभु ने शरीर में सोम की स्थापना इसलिए की है कि यह (क) सारे शरीर में प्राणशक्ति का सेचन करता है। (ख) मस्तिष्क को दीप्त करता है। (ग) शरीर को दृढ़ बनाता है। (घ) जननेन्द्रिय को स्वस्थ करता है। (ङ) हृदय को पवित्र व हिंसावृत्तिशून्य करता है और अन्त में (च) देवताओं के उत्थान का कारण बनता है।

इस सोमरक्षा से देवताओं का उत्थान करनेवाला यह 'देवश्रवाः' बनता है, देवताओं के निमित्त कीर्तिवाला।

भावार्थ—हम सोम की रक्षा करें, जिससे हममें प्राणशक्ति की वृद्धि हो और दिव्य गुणों का विकास हो।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—यज्ञपतिः। **छन्दः**—आसुर्य्यनुष्टुप् [१,२,६] आसुर्य्युष्णिक् [३,७], साम्नीगायत्री [४], आसुरीगायत्री [५]। **स्वरः**—गान्धारः [१,२,६], ऋषभः [३,७], षड्जः [४,५]॥

वर्चस्

[१]प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [२]व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानाय[३] मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [४]वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [५]क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [६]श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व [७]चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥२७॥

पिछले मन्त्र के 'देवानामुत्क्रमणमसि' का ही व्याख्यान २७ व २८ मन्त्र में करते हैं। देवश्रवाः सोम को सम्बोधित करते हुए कहता है कि १. हे सोम! **मे प्राणाय**=मेरे प्राणों के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है, अतः **वर्चसे**=प्राणशक्ति के लिए तू मुझे **पवस्व**=प्राप्त हो। २. **मे व्यानाय**=मेरी व्यानवायु के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=व्यान की शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। व्यानवायु ही सारे शरीर में गति करती हुई सब संस्थानों के कार्यों को ठीक प्रकार से चलाती है। ३. **मे उदानाय**=मेरे कण्ठदेश में काम करनेवाले उदानवायु के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=उदान की शक्ति के लिए तू मुझे **पवस्व**=प्राप्त हो। ४. **मे वाचे**=मेरी वाणी के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरी वाक्शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ५. **मे क्रतुदक्षाभ्याम्**=(प्रज्ञाबलाभ्याम्—द०) मेरी प्रज्ञा व मेरे बल के लिए **वर्चोदाः**=तू वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरी प्रज्ञाशक्ति के लिए तथा शारीरिक शक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ६. **मे श्रोत्राय**=मेरे कान के लिए **वर्चोदाः**=तू शक्ति देनेवाला है। **वर्चसे**=श्रोत्रशक्ति के लिए तू **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। ७. **मे चक्षुर्भ्याम्**=मेरी आँखों के लिए तुम **वर्चोदसौ** =शक्ति को

देनेवाले हो। **वर्चसे**=दृष्टिशक्ति के लिए **पवेथाम्**=मुझे प्राप्त होओ अथवा पवित्र करो। यहाँ सारे मन्त्र में इस अन्तिम वाक्य में ही 'वर्चोदसौ' यह द्विवचन का प्रयोग है, क्योंकि 'चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' इस वाक्य के अनुसार आँखों में चन्द्र व सूर्यशक्ति का निवास है। इस शक्तिद्वय के कारण यहाँ द्विवचन है। सूर्य यदि 'तेजस्' का प्रतीक है तो चन्द्र 'प्रसाद' का। आँखों में तेजस्विता व प्रसाद दोनों ही होने चाहिएँ। इसी दृष्टिकोण से द्विवचन है।

भावार्थ—सोम 'प्राण-व्यान-उदान-वाणी-प्रज्ञा और बल-श्रोत्र व चक्षु' को वर्चस् प्राप्त करानेवाला है।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—यज्ञपतिः। **छन्दः**—ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सर्वांगीण विकास

आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥२८॥

१. हे सोम! **मे आत्मने**=मेरे मन के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। तू **वर्चसे**=मन की शक्ति के लिए **पवस्व**=मुझे प्राप्त हो। २. **मे ओजसे**=मेरे ओजस्तत्त्व के लिए, शरीर की वृद्धि के कारणभूत तत्त्व के लिए **वर्चोदाः**=तू वर्चस् को देनेवाला है। **वर्चसे**=इस ओजस्तत्त्व को शक्तिशाली बनाने के लिए तू **पवस्व** =मुझे प्राप्त हो अथवा मुझे पवित्र कर। ३. **मे आयुषे**=मेरे जीवन के लिए तू **वर्चोदाः**=वर्चस् देनेवाला है। **वर्चसे**=मेरे जीवन को शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए **पवस्व**=तू मुझे प्राप्त हो। ४. **मे**=मेरी **विश्वाभ्यः** =सब **प्रजाभ्यः**=विकास-शक्तियों के लिए **वर्चोदसौ**=तुम वर्चस् देनेवाले हो। **वर्चसे**=इस मेरे वर्चस् के लिए **पवेथाम्**=मुझे प्राप्त होओ या पवित्र करो।

भावार्थ—सोम की रक्षा से मन बलवान् होता है, शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को बढ़ानेवाली शक्ति पुष्ट होती है, जीवन स्फूर्तिमय बनता है और सब शक्तियों का विकास होता है। शारीरिक, मानस व बौद्धिक-विकास का मूल यह सोम ही है।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्चीपङ्क्तिः[क], भुरिक्साम्नीपङ्क्तिः[ख]। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देवश्रवा का प्रभुस्तवन

[क]को ऽसि कतमो ऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नाममन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। [ख]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥२९॥

१. सोम के महत्त्व को समझता हुआ 'देवश्रवाः' प्रभु-स्मरण को सोमरक्षा का प्रमुख साधन जानकर प्रभु की आराधना करता है कि **कः असि**=हे प्रभो! आप आनन्दमय हो **क-तमः असि**=अत्यन्त आनन्दमय हो। २. **कस्य असि**=आप आनन्दमय के हो, अर्थात् आप उसे ही प्राप्त होते हो जो अपनी चित्तवृत्तियों को वशीभूत करके सदा प्रसन्न रहता है। ३. **को नाम असि**=हे प्रभो! आप 'क' अर्थात् आनन्दमय नामवाले हो। **यस्य ते**=जिन आपके **नाम**=नाम का **अमन्महि**=हम सदा चिन्तन करते हैं। ४. हे प्रभो! आप वे हैं **यं त्वा**=जिन आपको **सोमेन**=सोम के द्वारा **अतीतृपाम**=हम प्रीणित करते हैं। प्रभु ने हमें सोम ही सर्वोत्तम वस्तु प्राप्त करायी है। यह सोम हमारे जीवनों को आनन्दमय व उल्लासमय बनाता है और हम उस आनन्दमय प्रभु के अधिक समीप पहुँच जाते हैं। ५. हे प्रभो! इस सोमरक्षा के द्वारा **भूः**=मैं स्वस्थ बनूँ, **भुवः**=मैं ज्ञानी बनूँ, **स्वः** =मैं जितेन्द्रिय—'स्वयं राजमान'

होऊँ। **प्रजाभिः**=प्रजाओं से मैं **सुप्रजाः स्याम्**=उत्तम प्रजाओंवाला होऊँ। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। **वीरैः**=वीरों से मैं **सुवीरः**=उत्तम वीरोंवाला बनूँ। **पोषैः**=धनों के पोषण से **सुपोषः**=उत्तम पोषणवाला होऊँ, अर्थात् मेरी सन्तान उत्तम हो, मैं स्वयं वीर होऊँ और मेरा धन उत्तम उपायों से कमाया जाए।

भावार्थ—आनन्दमय प्रभु की उपासना हम 'मनःप्रसाद' को सिद्ध करके ही कर सकते हैं। प्रभु-उपासन से सोमरक्षा होती है। सोमरक्षा से प्रभु का प्रीणन होता है। हम स्वस्थ, ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनते हैं। उत्तम प्रजावाले, वीर व उत्तम धनोंवाले होते हैं।

ऋषिः—देवश्रवाः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—साम्नीगायत्री[१,३,४,५,९,११], आसुर्यनुष्टुप्[२,६,१०,१२], याजुषीपङ्क्तिः[७,८], आसुर्युष्णिक्[१३]। **स्वरः**—षड्जः[१,३,४,५,९,११], गान्धारः[२,६,१०,१२], पञ्चमः[७,८], ऋषभः[१३]॥

बारह मास प्रभु-चिन्तन

[१]उप॒या॒मगृ॑हीतो ऽसि॒ मध॑वे त्वो[२]पया॒मगृ॑हीतो ऽसि॒ माध॑वाय त्वो[३]पया॒मगृ॑हीतो ऽसि शु॒क्राय॑ त्वो[४]पया॒मगृ॑हीतो ऽसि॒ शुच॑ये त्वो[५]पया॒मगृ॑हीतो ऽसि॒ नभ॑से त्वो[६]पया॒मगृ॑हीतो ऽसि॒ नभ॑स्याय त्वो[७]पया॒मगृ॑हीतो ऽसीषे त्वो[८]पया॒मगृ॑हीतो ऽस्यू॒र्जे त्वो[९]पया॒मगृ॑हीतो ऽसि॒ सह॑से त्वो[१०]पया॒मगृ॑हीतो ऽसि॒ सह॑स्याय त्वो[११]पया॒मगृ॑हीतो ऽसि॒ तप॑से त्वो[१२]पया॒मगृ॑हीतो ऽसि॒ तप॑स्याय त्वो[१३]पया॒मगृ॑हीतो ऽस्यꣳहसस्प॒तये॑ त्वा॥ ३०॥

देवश्रवा प्रभु का आराधन करता हुआ कहता है कि—१. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना के द्वारा धारित यम-नियमों से ग्रहण किये जाते हैं। जो व्यक्ति जीवन में यम-नियमों का पालन करता है, उसी को आप प्राप्त होते हैं। **मधवे त्वा**=मैं मधुमास के लिए आपका स्वीकार करता हूँ। वर्ष को प्रारम्भ करनेवाले चैत्र मास में मैं आपको हृदाकाश में बिठाने का प्रयत्न करता हूँ। इस मधुमास में आपको स्वीकार करते हुए मैं सचमुच **मधु**=माधुर्य को प्राप्त करता हूँ। मेरा जीवन माधुर्यमय बनता है। २. हे प्रभो! आप **उपयामगृहीतः असि**=उपासना द्वारा धारित यम-नियमों से गृहीत होते हैं। **माधवाय त्वा**=मैं वैशाख मास के लिए आपको स्वीकार करता हूँ। आप स्वयं 'मा-धव' हैं। आपको प्राप्त करके लक्ष्मी को तो मैं प्राप्त कर ही लूँगा। ३. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयाम से गृहीत होते हैं। **शुक्राय त्वा**=ज्येष्ठ मास में हम आपको पाने का व्रत लेते हैं। आपको पाकर हम आपकी भाँति 'शुक् गतौ' निरन्तर गतिशील बनते हैं। लक्ष्मीपति बनकर हमें अकर्मण्य व आरामपसन्द थोड़े ही बन जाना है? ४. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **शुचये त्वा**=आपको आषाढ़ मास के लिए स्वीकार करता हूँ। आपको स्वीकार करके मैं सचमुच 'शुचि'=पवित्र बनता हूँ। लक्ष्मी का पति बनकर मैं अर्थ के दृष्टिकोण से अपवित्र हृदयवाला नहीं बनता। ५. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **नभसे त्वा**=श्रावण मास के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ जिससे आपसे मिलकर (णभ हिंसायाम्) मैं इन बुराइयों को मूल में ही समाप्त कर सकूँ (Nip the evil in the bud)। ६. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप उपयामगृहीत हैं। **नभस्याय त्वा**=भाद्रपद मास के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ, (न भस्=to revile, blame, abuse+य) मैं गाली देने में ही उत्तम न बना रहूँ। आपका उपासक बनकर किसी से घृणा न करूँ। किसी के दोष न देखूँ। (न+भस् to eat+य) अथवा खाने में ही उत्तम न बना रहूँ। पार्थिव भोग मेरे जीवन का लक्ष्य न हो जाएँ। ७. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हैं। **इषे त्वा**=मैं आश्विन मास के लिए

आपको स्वीकार करता हूँ, जिससे सदा आपकी प्रेरणा को पाता रहूँ। ८. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हैं। **ऊर्जे त्वा** =कार्त्तिक मास के लिए मैं आपका स्वीकार करता हूँ, जिससे मैं (ऊर्ज॰ बलप्राणनयोः) बल और प्राणशक्ति प्राप्त का सकूँ। ९. **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **सहसे त्वा**=मैं मार्गशीर्ष मास के लिए आपको स्वीकार करता हूँ, जिससे मेरे अन्दर सहस्=सहनशक्ति (toleration) हो। १०. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप सुनियमों से स्वीकृत हो **सहस्याय त्वा**=हम पौष मास के लिए आपको स्वीकार करते हैं, इसलिए कि हम (सहसि साधुः) उत्तम बलवाले हो सकें। ११. **उपयामगृहीतः असि**=हे प्रभो! आप सुनियमों से स्वीकार किये जाते हो। **तपसे त्वा**=माघ मास के लिए हम आपको स्वीकार करते हैं, जिससे हमारा जीवन तपस्वी हो। १२. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हो। **तपस्याय त्वा**=फाल्गुन मास के लिए हम आपको स्वीकार करते हैं, जिससे हमारा जीवन सुनियम में स्थित हो। (तपस्या नियमस्थितिः) हम सदा मर्यादा में चलनेवाले हों। १३. **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामगृहीत हो। **अहंसस्पतये त्वा**=इस तेरहवें मलमास के लिए भी हम आपको ही स्वीकार करते हैं, जिससे हम अंहस् पापों से अपनी रक्षा (पति) कर सकें। आपका स्मरण हमें सदा पापों से बचानेवाला हो।

भावार्थ—यदि हम देवश्रवाः=दिव्य गुणों के कारण कीर्तिवाले बनना चाहते हैं तो हम वर्ष के सभी मासों में प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें। यह स्मरण हमें दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनाएगा। हमारे जीवन में 'माधुर्य, लक्ष्मी, क्रियाशीलता, शुचिता, असुर-संहार, अपशब्दराहित्य, प्रभु-प्रेरणा श्रवण, बल व प्राणशक्ति, सहनशक्ति, उत्तम बल, तप, मर्यादा व पापदूरीकरण का निवास होगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शक्ति व प्रकाश

इन्द्राग्नीऽआगतꣳसुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम्। अस्य पातं धियेषिता।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा॥३१॥

१. गत मन्त्र के उपासक 'देवश्रवाः' में दिव्य गुणों की उत्पत्ति होती है। इन्हीं के कारण उसकी कीर्ति है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण प्रथम गुण 'माधुर्य' है। यह सबके साथ मधुरता व प्रेम से वर्तता है। प्रेम से वर्तने के कारण यह 'विश्वामित्र' बन जाता है। इसके जीवन में 'शक्ति' भी होती है, 'प्रकाश' भी। इन्हीं तत्त्वों को प्रस्तुत मन्त्र में 'इन्द्राग्नी' शब्द से कहा गया है। इनसे कहते हैं कि हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाशवाले व्यक्तियो! **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न इस सोम को **आगतम्**=प्राप्त होओ। वस्तुतः यह सुत सोम तुम्हें 'इन्द्राग्नी' बनानेवाला है। २. इस सोम की रक्षा के लिए तुम **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों व प्रभु-स्तुति की वाणियों से **वरेण्यं नभः**=वरणीय हिंसा को **आगतम्**=प्राप्त होवो। यह वरणीय=स्वीकारने योग्य हिंसा 'वासनाओं की हिंसा' है। ३. **धिया इषिता**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों में प्रेरित हुए-हुए तुम **अस्य पातम्**=इस सोम की रक्षा करो। जब मनुष्य ज्ञान-सम्पादन करता है और ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्यापृत रहता है तब वह वासनाओं का शिकार नहीं होता। यह वासनाओं का शिकार न होना ही हमें सोम की रक्षा में समर्थ करता है ४. विश्वामित्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों के पालन से गृहीत होते हो।

इन्द्राग्निभ्यां त्वा=मैं बल व प्रकाश के लिए आपका उपासक बनता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय (आत्मा) तेरा निवास-स्थान है, अर्थात् मैं अपने हृदय-मन्दिर में आपका ध्यान करता हूँ। **इन्द्रग्निभ्यां त्वा**=हे प्रभो! मैं आपका ध्यान इसलिए करता हूँ कि शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करनेवाला बनूँ। शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करके ही मैं अपने 'विश्वामित्र' नाम को चरितार्थ कर पाऊँगा।

भावार्थ—ज्ञान व स्तुति की वाणियों से तथा ज्ञानपूर्वक कर्म करने से हम सोम की रक्षा करें और सोमरक्षा द्वारा शक्ति व प्रकाश को प्राप्त करके सबके साथ स्नेह करनेवाले 'विश्वामित्र' बनें।

ऋषिः—त्रिशोकः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—आर्षीगायत्री[क], आर्च्युष्णिक्[र]। स्वरः—षड्जः[क], ऋषभः[र]॥

त्रि-शोक

[क]आ घा॒ येऽअ॒ग्निमि॑न्ध॒ते स्तृ॑णन्ति ब॒र्हिरा॑नु॒षक्। येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑।
[र]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ऽग्नी॒न्द्राभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑रग्नी॒न्द्राभ्यां॑ त्वा॥३२॥

१. गत मन्त्र का 'विश्वामित्र' माधुर्यमय जीवन से 'शरीर के स्वास्थ्य', 'मन के नैर्मल्य' तथा 'मस्तिष्क की उज्ज्वलता' को सिद्ध करके 'त्रिशोक' बनता है, जिससे शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों ही चमकते हैं। २. ये त्रिशोक वे होते हैं **ये**=जो **घ**=निश्चय से **आ**=सर्वथा **अग्निम्**=अग्नि को **इन्धते**=दीप्त करते हैं, अर्थात् नियमपूर्वक अग्निहोत्र करते हैं और प्रभु के प्रकाश को अपने में दीप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ३. **ये**=जो **आनुषक्**=निरन्तर **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **स्तृणन्ति**=प्रभु के आसन के रूप में बिछाते हैं। यह निर्वासन हृदय ही प्रभु का 'कुशासन' बनता है। ४. त्रिशोक वे होते हैं **येषाम्**=जिनका **इन्द्रः**=ईश्वर **युवा**=(मिश्रण-अमिश्रण) बुराइयों का अमिश्रण करके अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाला होता है और इस प्रकार **सखा**=सच्चा मित्र होता है। ५. त्रिशोक इस मित्र से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप उपासना द्वारा धारित यम-नियमों से गृहीत होते हो। **अग्नीन्द्राभ्यां त्वा**=मैं प्रकाश व शक्ति के लिए आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय तेरा निवास-स्थान है। **अग्नीन्द्राभ्यां त्वा**=प्रकाश व शक्ति के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। ६. पिछले मन्त्र में 'इन्द्राग्निभ्यां' था, प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नीन्द्राभ्यां' है। यह आगे-पीछे करके लिखना इस बात का सूचक है कि 'शक्ति व प्रकाश' उतने ही महत्त्व के हैं जितने कि 'प्रकाश व शक्ति'। प्रकाश व शक्ति दोनों ही समानरूप से इष्ट हैं।

भावार्थ—(क) मैं अग्निहोत्र करूँ तथा प्रभु का ध्यान भी। (ख) हृदय को वासनाशून्य बनाऊँ। (ग) प्रभु की मित्रता को प्राप्त करूँ। (घ) इस प्रभु को मित्र बनाकर हम विश्वबन्धुत्व की भावना का आनन्द लें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। देवता—विश्वेदेवाः। छन्दः—ओर्षीगायत्री[क], आर्चीबृहती[र]। स्वरः—षड्जः[क], मध्यमः[र]॥

मधुच्छन्दाः

[क]ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॑ देवास॒ऽआग॑त। दा॒श्वाꣳसो॑ दा॒शुषः॑ सु॒तम्।
[र]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॒ऽएष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॥३३॥

गत मन्त्र का 'त्रिशोक' अत्यन्त उत्तम इच्छाओंवाला होने के कारण 'मधुच्छन्दाः'

बन जाता है। इनके लिए कहते हैं कि १. **ओमासः**=(अव् रक्षणे, अवन्ति सद्गुणै रक्षन्ति) सद्गुणों के धारण से अपनी रक्षा करनेवाले २. **चर्षणीधृतः**=मनुष्यों का धारण करनेवाले ३. **विश्वेदेवासः**=सब दिव्य गुणों को अपनानेवाले ४. **दाश्वांसः**=दान देनेवाले **दाशुषः सुतम्**=दानशील के ऐश्वर्य को **आगत**=प्राप्त होओ। दानशील के ऐश्वर्य को प्राप्त होने का अभिप्राय यह है कि तुम वह ऐश्वर्य प्राप्त करो जो तुम्हें कृपणता की वृत्तिवाला न बना दे, जिस धन को तुम उदारता से दान देनेवाले बने रहो। ५. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत होते हो। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=मैं आपका ग्रहण इसलिए चाहता हूँ कि दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा शरीर तेरा निवास-स्थान है। मैं अपने शरीर में **त्वा**=आपको इसलिए प्रतिष्ठित करता हूँ कि **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त कर सकूँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम १. वासनाओं से अपना रक्षण करनेवाले हों। २. मनुष्यों का धारण करनेवाले हों। ३. दिव्य गुणोंवाले हों ४. दान की वृत्तिवाले हों। ५. दान की वृत्तिवाले के धन को प्राप्त हों। ६. इस प्रकार सब दिव्य गुणोंवाले हों।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री[क], निचृदार्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—षड्जः[क], ऋषभः[र]॥

विश्वेदेवाः

[क]विश्वे॑ देवास॒ऽआग॑त शृणु॒ता म॑ इ॒मꣳह॒वम्। एदं ब॒र्हिर्नि॑षीदत।
[र]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॒ऽए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः॥३४॥

गत मन्त्र का मधुच्छन्दा सब दिव्य गुणों को अपनाकर प्रभु का सच्चा उपासक 'गृत्स' बनता है और आनन्दमय जीवनवाला होने के कारण 'मद' होता है। यह 'गृत्समद' प्रार्थना करता है कि १. **विश्वे देवासः**=हे सब दिव्य गुणो! **आगत**=आओ। **मे**=मेरी **इमं हवम्**=इस पुकार को, इस प्रार्थना को **शृणुत**=सुनो और **इदम्**=इस **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आनिषीदत**=सर्वथा विराजमान होओ। जब हृदय में से वासनाओं का कूड़ा-करकट दूर कर दिया जाता है तब यह हृदयक्षेत्र दिव्य गुणों के बीजवपन के लिए तैयार हो जाता है। यह दिव्य गुण-बीजवपन ही प्रभु का सच्चा उपासन है। उपासना का यह परिणाम कम-से-कम होना ही चाहिए। २. यह गृत्समद प्रभु से कहता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत होते हैं। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः**=सब दिव्य गुणों के लिए मैं आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः** =यह शरीर तेरा निवास-स्थान है। मैं तुझे अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता हूँ। **विश्वेभ्यः त्वा देवेभ्यः** =सब दिव्य गुणों के लिए तुझे स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासक बनें। सदा प्रसन्न रहें, जिससे सब दिव्य गुणों के पात्र हों।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्[क], आर्ष्युष्णिक्[र]। **स्वरः**—धैवतः[क], ऋषभः[र]॥

सोमपान

[क]इन्द्र॑ मरुत्वऽइ॒ह पा॑हि॒ सोम॒ यथा॑ शार्या॒तेऽअपि॑बः सु॒तस्य॑। तव॒ प्रणी॑ती॒ तव॑ शूर॒ शर्म॒न्नावि॑वासन्ति क॒वय॑ः सुय॒ज्ञाः। [र]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑तऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते॥३५॥

१. 'गृत्समद'=प्रभु का स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है। यह सभी के साथ स्नेह करता है, अतः 'विश्वामित्र' बन जाता है। इस विश्वामित्र के लिए कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता **मरुत्वः**=मरुतोंवाले! प्राणोंवाले, प्राणसाधना करनेवाले! **इह**=इस मानव-जीवन में तू **सोमं पाहि**=सोम की सुरक्षा कर। **यथा**=जिस प्रकार **शार्याते**=(शर्याभिः, निर्वृत्तानि कर्माणि व्याप्नोति—द०) कर्मों में निरन्तर व्याप्त होनेवाले विश्वामित्र! तू **सुतस्य अपिबः**=इस उत्पन्न सोम का पान कर। 'कर्मों में व्याप्त रहना' सोमपान का सर्वप्रथम साधन है। २. हे **शूर**=सब मलिनताओं की हिंसा करनेवाले सोम! **तव प्रणीती**=तेरे प्रकृष्ट **नयन**=प्रापण से, अर्थात् शरीर में तेरे पान से तथा **तव शर्मन्**=तेरी शरण में **कवयः**=ज्ञानी तथा **सुयज्ञाः**=उत्तम यज्ञों को करनेवाले **आविवासन्ति**=सब अज्ञानान्धकारों को दूर करते हैं। सोम की रक्षा से ज्ञानाग्नि दीप्त होती है। ३. **उपयामगृहीतः असि**=उपासना से धारित यम-नियमों से तू गृहीत होता है। मैं **त्वा**=तेरा ग्रहण **इन्द्राय मरुत्वते**=प्राण-साधनावाला जितेन्द्रिय पुरुष बनने के लिए करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा हृदय-मन्दिर तेरा निवास-स्थान बनता है। **त्वा**=तुझे मैं हृदय-मन्दिर में इसीलिए बिठाता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=(मरुतः प्राणाः) मैं उत्तम प्राणोंवाला जितेन्द्रिय पुरुष बन पाऊँ।

भावार्थ—मैं सोमपान करके मरुत्वान् इन्द्र=प्रकृष्ट प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय, परमैश्वर्यशाली पुरुष बनूँ।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्[१], आर्ष्युष्णिक्[२], साम्न्युष्णिक्[३]। **स्वरः**—धैवतः[१], ऋषभः[२,३]॥

कैसा राजा ?

[१]मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳशासमिन्द्रम्। विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳसहोदामिह तꣳहुवेम। [२]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते। [३]उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे॥ ३६॥

१. गत मन्त्र में 'मरुत्वान् इन्द्र' बनने की कल्पना थी। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस उक्ति के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में यह प्रार्थना करते हैं कि राजा भी 'मरुत्वान् इन्द्र' ही हो। 'माता-पिता, आचार्य, अतिथि व राजा' सब ऐसी वृत्ति के होंगे तब इनसे बनाये जानेवाले मनुष्य भी मरुत्वान् इन्द्र क्यों न होंगे, अतः कहते हैं कि **इह**=यहाँ—अपने राष्ट्र में **तं हुवेम**=उसे ही राजा होने के लिए पुकारते हैं जो (क) **मरुत्वन्तम्**=प्राणोंवाला है, प्राणसाधना के द्वारा जिसने प्राणों का विकास किया है (ख) **वृषभम्**=जो श्रेष्ठ है, शक्तिशाली है। (ग) **वावृधानम्**=निरन्तर उन्नति कर रहा है। (घ) **अकवारिम्**=(कु शब्दे से भाव में अप् करके कवः, कवं इयर्ति प्राप्नोति 'कवारिः') शब्द न करनेवाले, कम बोलनेवाले, व्यर्थ की काँय-काँय न करनेवाले। (ङ) **दिव्यम्**=प्रकाश में निवास करनेवाले (च) **शासम्**=अपना शासन करनेवाले (छ) **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय (ज) **विश्वासाहम्**=काम-क्रोध- लोभादि शरीर में घुस आनेवाली अवाञ्छनीय वासनाओं को कुचल डालनेवाले (झ) **उग्रम्**=तेजस्वी व उदात्त (ञ) **सहोदाम्**=सभी में बल का सञ्चार करनेवाले को राजा के रूप में **नूतनाय अवसे**=स्तुत्य रक्षण के लिए **हुवेम**=पुकारते हैं।

२. हे राजन्! **उपयामगृहीतः असि**=आप उपयामों से गृहीत हैं। आपका जीवन यम-नियमवाला है। मैं **त्वा**=आपको इसलिए ग्रहण करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं उत्तम

प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय पुरुष बन पाऊँ। राजा के अनुकरण में ही प्रजा चलती है। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र तेरा घर है। यही तुझे जन्म देनेवाला है। **इन्द्राय त्वा मरुत्वते**=आपका स्वीकार हम इसीलिए करते हैं कि हम भी उत्तम प्राणोंवाले, जितेन्द्रिय पुरुष बन सकें। हे राजन्! **उपयामगृहीतः असि**=आपने अपने जीवन में सुनियमों को स्वीकार किया है। **मरुतां त्वा ओजसे**=हम आपको इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम भी प्राणों का ओज प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—इन्द्र, अर्थात् राजा 'मरुत्वान्' हो तो प्रजा भी प्राणों के बलवाली होती है।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप् [क], प्राजापत्यात्रिष्टुप् [ख]। **स्वरः**—धैवतः॥

सेनापति

[क] सजोषाऽइन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्।
जहि शत्रूँ१॥ऽरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः।
[ख] उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते॥३७॥

१. गत मन्त्र के राजा के साथ मिलकर कार्य करनेवाला सेनापति है। राजा और सेनापति राष्ट्र के मुख्य अधिकारी हैं। आन्तरव्यवस्था का मुख्य दायित्व राजा पर है तो राष्ट्र की बाह्य शत्रुओं से रक्षा करने के लिए सेनापति ने सेना को सन्नद्ध रखना है। यह सेनापति भी जितेन्द्रिय होना चाहिए, अतः कहते हैं कि **इन्द्र**=हे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय सेनापते! तू **सजोषाः**=राजा के साथ प्रीतिपूर्वक राष्ट्र की सेवा करनेवाला हो (जुषी प्रीतिसेवानयोः)। **सगणः**=अपने गणों के साथ, अपने सैन्यगणों के साथ **मरुद्भिः**=प्राणों की साधना के द्वारा **सोमं पिब**=तू सोम का पान करनेवाला हो। सोमशक्ति को शरीर में सुरक्षित करनेवाला हो **वृत्रहा**=ज्ञान के आवरणभूत काम को तू नष्ट करनेवाला हो। **शूर विद्वान्**=तू ज्ञानी हो, परन्तु तेरा ज्ञान शूरता से युक्त हो। तू अपने ज्ञान को शूरता से विशिष्ट करनेवाला हो। २. **शत्रून् जहि**=राष्ट्र के शत्रुओं की तू हिंसा कर। **मृधः**=क़ातिलों को **अपनुदस्व**=दूर भगानेवाला हो। ऐसी व्यवस्था करके **अथ**=अब **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **अभयम्**=निर्भय **कृणुहि**=कीजिए। ३. **उपयामगृहीतः असि**=हे सेनापते! तू भी यम-नियमों से युक्त जीवनवाला हो। **त्वा**=तुझे **मरुत्वते इन्द्राय**=प्रशस्त प्राणोंवाले जितेन्द्रिय पुरुष के लिए हम चाहते हैं, अर्थात् तू प्राणसाधना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष हो। **एषः ते योनिः**=यह राष्ट्र ही तेरा घर है। **इन्द्राय त्वा मरुत्वते**=तुझे हम इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम भी प्राणसाधनावाले जितेन्द्रिय पुरुष बन सकें।

भावार्थ—राजा की भाँति सेनापति भी, प्राणसाधाना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष हो। यही राष्ट्र की उत्तमता से रक्षा कर सकेगा।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप् [क], प्राजापत्यात्रिष्टुप् [ख]। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रज्ञा-दीप्ति

[क] मरुत्वाँ२॥ऽइन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आसिञ्चस्व जठरे मध्वऽऊर्मिं त्वꣳराजासि प्रतिपत्सुतानाम्।
[ख] उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते॥३८॥

राष्ट्र में राजा व सेनापति के उत्तम होने पर प्रजा का जीवन भी बड़ा सुन्दर बनता है, अतः कहते हैं कि १. **मरुत्वान्**=तू प्राणोंवाला है, तूने प्राणों की साधना करके उन्हें प्रशस्त बनाया है। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **वृषभः**=तू प्राणसाधना के परिणामरूप श्रेष्ठ बना है। ३. तू **रणाय**=रमणीयता के लिए **सोमं पिब**=सोम का पान कर। प्राणसाधना का यह स्वाभाविक परिणाम है कि शक्ति की ऊर्ध्वगति होती है और शक्ति के शरीर में व्याप्त होने से तू अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रमणीयतावाला होता है। ४. इस शक्ति के धारण से ही **अनुष्वधं मदाय**=(स्वधामनु, स्वधा=अन्न) अन्न के बाद तू हर्ष का अनुभव करता है। वीर्यरक्षा से पाचनशक्ति ठीक रहती है और भोजन के बाद व्यक्ति विशेष आनन्द का अनुभव करता है। ५. **जठरे**=अपने उदर में **मध्वः ऊर्मिं आसिञ्चस्व**=इन सोम की तरङ्गों को सिक्त कर। यौवन में इस सोम के उत्पादन से उसमें ज्वार-सी उठती है, उबाल-सा आता है। इन तरङ्गों को तू अपने अन्दर ही सिक्त करनेवाला हो। ६. **प्रतिपत्सुतानाम्**=(प्रतिपत्=चेतना) ज्ञान की वृद्धि के लिए उत्पन्न किये गये इन सोमों का **त्वम्**=तू **राजा असि**=शरीर में ही नियमन (regulate) करनेवाला है। इन सोमकणों ने तेरी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे प्रज्वलित रखना है। प्रभु ने इन्हें मुख्यरूप से इस चेतना के लिए ही उत्पन्न किया है। ७. इस प्रकार प्रेरणा दिया हुआ विश्वामित्र प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **त्वा**=आपको मैं इसलिए उपासित करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं प्राणसाधनावाला मरुत्वान् बन सकूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा 'विग्रह'=शरीर आपका विशिष्ट गृह है। **त्वा**=आपको मैं यहाँ इसलिए आसीन करता हूँ कि **इन्द्राय मरुत्वते**=मैं प्राणसाधना द्वारा उत्तम प्राणोंवाला, जितेन्द्रिय पुरुष बन सकूँ।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवनों में सोम की स्थापना इसलिए की है कि हमारी प्रज्ञा में वृद्धि हो, हमारी ज्ञानाग्नि दीप्त हो।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—प्रजासेनापतिः। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः[क], साम्नीत्रिष्टुप्[ख]। **स्वरः**—पञ्चमः[क], धैवतः[ख]॥

इन्द्र से महेन्द्र

[क]**महाँ२॥ऽइन्द्रो नृवदाचर्षणिप्राऽउत द्विबर्हीऽअमिनः सहोभिः।**
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्।
[ख]**उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥३९॥**

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जब विश्वामित्र सोमरक्षा द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रमणीय बनाता है और प्रज्ञा को दीप्त करता है तब वह प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बन जाता है, अपने में शक्ति व ज्ञान को भरनेवाला। २. यह **महान्**=बड़ा बनता है, महनीय होता है। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता होता है ४. **नृवत्**=(नृ=नेता) औरों के लिए नेता के समान होता है, औरों का मार्गदर्शक बनता है। ५. **आचर्षणिप्राः**=मनुष्यों का समन्तात् पूरण करनेवाला होता है। ६. **उत**=और **द्विबर्हाः**=दोनों क्षेत्रों में, अर्थात् ज्ञान व शक्ति के दोनों स्थानों में बढ़ा हुआ होता है। ज्ञान के दृष्टिकोण से ऋषि, तो शक्ति के दृष्टिकोण से मल्ल। ७. **सहोभिः**=अपने बलों के कारण **अमितः**=अहिंसित होता है (मीञ् हिंसायाम्) अथवा अपने बलों से यह औरों की हिंसा करनेवाला नहीं बनता। ८. **अस्मद्र्यक्**=प्रभु कहते हैं कि (अस्मान् अञ्चति) यह वह व्यक्ति है जो हमारी ओर आ रहा है। ९. **वावृधे वीर्याय**=यह शक्ति के लिए निरन्तर बढ़ता चलता है। १०. **उरुः**=यह विशाल हृदयवाला

होता है। ११. **पृथुः**=विस्तृत शरीरवाला अथवा विशाल यशवाला व विस्तृत बलवाला (यशसा विपुलः, बलेन विस्तृतः—म०) १२. **कर्तृभिः**=अपने कर्त्तव्यों से **सुकृतः**=(शोभनं कृतं यस्य) उत्तम पुण्य कर्मोंवाला **भूत्**=होता है। १३. यह भरद्वाज प्रभु से प्रार्थना करता है कि **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **त्वा**=आपको मैं इसलिए उपासित करता हूँ कि **महेन्द्राय**=मैं महेन्द्र बन सकूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा विग्रह (शरीर) आपका विशिष्ट गृह है। मैं **त्वा**=आपको इस गृह में प्रतिष्ठित करता हूँ जिससे **महेन्द्राय**=मैं भी महेन्द्र बन जाऊँ। ब्रह्म का उपासक 'ब्रह्म-सा' बन जाता है। उपासना में आगे और आगे बढ़ते हुए इन्द्र 'महेन्द्र'-सा बन जाता है।

भावार्थ—उपासना में आगे और आगे बढ़ते हुए मनुष्य इन्द्र से महेन्द्र बनने का यत्न करे।

ऋषिः—वत्सः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री [क], विराडार्षीगायत्री [ख]। **स्वरः**—षड्जः॥

वत्स

[क]महाँ२॥ऽइन्द्रो यऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ२॥ऽइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे। [ख]उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा॥४०॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार इन्द्र से महेन्द्र बननेवाला व्यक्ति ही वस्तुतः प्रभु का उपासक है। इसका जीवन प्रभु का प्रतिपादन करनेवाला होता है। 'वदतीति वत्सः' इसी कारण यह 'वत्स' कहलाता है। यह प्रभु को निम्न रूप में देखता है। २. **महान्**=ये प्रभु महान् हैं। ३. **यः**=जो **ओजसा**=अपने ओज के कारण **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विदारण करनेवाले हैं। ४. और सब उपासकों के लिए **वृष्टिमान् पर्जन्यः इव**=बरसनेवाले बादल की भाँति हैं। जैसे यह बादल सब सन्ताप को समाप्त कर देता है, इसी प्रकार प्रभु के उपासक का चित्त भी शान्त होता है। ५. ये प्रभु **वत्सस्य**=अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन करनेवाले के **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों से **वावृधे**=बढ़ाये जाते हैं, अर्थात् स्तुति वही करता है जो प्रभु के उस गुण को अपने जीवन में धारण करने का प्रयत्न करता है। ६. हे प्रभो! **उपयामगृहीतः असि**=आप सुनियमों से स्वीकृत होते हो। **महेन्द्राय त्वा**=मैं भी इन्द्र से महेन्द्र बन सकूँ, इसलिए आपको स्वीकार करता हूँ। **एषः ते योनिः**=यह मेरा शरीर आपका घर है, मैं अपने हृदय-मन्दिर में आपको प्रतिष्ठित करता हूँ **महेन्द्राय त्वा**=जिससे मैं महेन्द्र बन सकूँ। इन्द्र से महेन्द्र बनना ही मानव का लक्ष्य होना चाहिए।

भावार्थ—हम प्रभु की भाँति विशाल हृदय (महान्), शक्ति से शत्रुओं का विदारण करनेवाले (इन्द्र) और सबके सन्ताप को दूर करनेवाले (पर्जन्य), बनेंगे तभी प्रभु के प्रिय व 'वत्स' बन पाएँगे।

ऋषिः—प्रस्कण्वः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रस्कण्व

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यꣳस्वाहा॥४१॥

गत मन्त्र का 'वत्स' प्रकृति से ऊपर उठकर प्रभु के गुणों को धारण करता है। यही बुद्धिमत्ता है। इस बुद्धिमत्ता के कारण यह 'प्रस्कण्व' (मेधावी) हो जाता है। ये **केतवः**=(केतुः=प्रज्ञा—नि० ३।९) प्रज्ञा के पुञ्ज ज्ञानी लोग **उत्**=निश्चय से इन प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर (उत्=out) **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **जातवेदसम्**=(जाते-जाते विद्यते—नि० ७।१९)

प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में वर्त्तमान **देवम्**=प्रकाशमय, सब-कुछ देनेवाले, चमकनेवाले और चमकानेवाले **सूर्यम्**=सबको हृदयस्थरूपेण कर्मों की प्रेरणा देनेवाले, सहस्र-सूर्यसम ज्योतिवाले उस प्रभु को **विश्वाय दृशे**=सब पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए **वहन्ति**=धारण करते हैं। प्रभु का ज्ञान होने पर ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। उपनिषद् में **'कस्मिन्नु खलु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'** किसके ज्ञात होने पर यह सारा ब्रह्माण्ड ज्ञात हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर ही ऐसा होता है। ब्रह्मातिरिक्त सब पदार्थों का ज्ञान 'शब्द-ब्रह्म' या अपराविद्या' है। इसके द्वारा ही वस्तुतः मनुष्य 'परब्रह्म' तक पहुँचता है। वहाँ पहुँच जाने पर ये सब ज्ञान अनायास हो जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने इस मानव-जीवन को इसी प्रकार सफल कर सकते हैं कि प्रकृति से ऊपर उठें और उस 'जातवेदस् देव' का दर्शन करें।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

कुत्स

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥४२॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रभु का दर्शन करनेवाला 'प्रस्कण्व'=मेधावी पुरुष सब बुराइयों का संहार करनेवाला होता है। बुराइयों का संहार करने के कारण ही वह 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्)=आदरणीय हिंसक बनता है। यह कह उठता है कि यह प्रभु **उदगात्**=उदित हो गया, जोकि १. **चित्रम्**=(चित्+र) सम्पूर्ण ज्ञान को देनेवाला है। २. **देवानां अनीकम्**=सब देवों का बल है। वस्तुतः देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाला यही है। यही **मित्रस्य**=अहरभिमानी देवता सूर्य का (दिन के देवता 'दिवा-कर' का) **वरुणस्य**=रात्रि के अभिमानी देवता चन्द्र का तथा **अग्नेः**=इस पृथिवीस्थ देवों के मुखिया अग्नि का **चक्षुः**=प्रकाशक है। ३. इस प्रभु ने ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक को **आप्राः**=व्याप्त किया हुआ है, पूरण किया हुआ है। ४. **सूर्यः**=यही स्वयं प्रकाश है, अन्यों को प्रकाश देनेवाला है ५. **आत्मा**=(अतति सर्वत्र व्याप्नोति) सर्वत्र व्याप्त है। ६. **जगतः तस्थुषः च**=जङ्गम व स्थावर—सम्पूर्ण जगत् का यह **स्वाहा**=(सु आह) उत्तमता से उपदेश देनेवाला है।

भावार्थ—कुत्स वही बनता है जो सर्वत्र प्रभु की व्याप्ति को देखने का प्रयत्न करता है। उसी की शक्ति को सर्वत्र कार्य करता हुआ देखने पर मनुष्य निरभिमान हो जाता है।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—अन्तर्यामी जगदीश्वरः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आङ्गिरस

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा॥४३॥

गत मन्त्र का 'कुत्स' ही 'आङ्गिरस' बनता है। सब दुर्गुणों का संहार ही मनुष्य को शक्तिशाली बनाता है। यह आङ्गिरस संसार में अपने गौरव के प्रतिकूल कोई बात नहीं करता। विशेष रूप से यह कुपथ से धन कमाने में प्रवृत्त नहीं होता। इसकी प्रार्थना है कि १. **अग्ने**=हमारी सब उन्नतियों के साधक हे प्रभो! **अस्मान्**=हमें **राये**=धन के लिए **सुपथा**=उत्तम

मार्ग से **नय**=ले-चलिए। २. हे **देव**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=विज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। आप हमें भी उन सब विज्ञानों को प्राप्त कराइए। ३. **अस्मत्**=आप हमसे **जुहुराणम्**=सब कुटिलताओं को तथा **एनः**=सब पापों को **युयोधि**=(वियोजय-द०) पृथक् कीजिए। ४. हम **ते**=आपके लिए **भूयिष्ठाम्**=अत्यधिक **नमउक्तिम्**=नतिपुरःसर स्तुति को **विधेम**=करते हैं। ५. **स्वाहा**=अन्याय्य मार्ग से धन कमानेरूप पाप से बचने के लिए हम (स्व+हा) आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम सदा न्याय-मार्ग से ही धन कमाएँ। पाप व कुटिलता से दूर रहें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विजय

अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳशत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥४४॥

१. गत मन्त्र में न्याय-मार्ग से धन कमाने का उल्लेख था, वस्तुतः धन देनेवाले तो प्रभु हैं। जीव को तो प्रभु से उपदिष्ट न्याय-मार्ग पर चलते चलना है। इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं कि **अयं अग्निः**=सब उन्नतियों का साधक यह प्रभु **नः**=हमारे लिए **वरिवः**=धन **कृणोतु**=प्राप्त करे। प्रभु हमें उन्नति के लिए आवश्यक निवास आदि को सुन्दर बनाने के लिए सब धन देनेवाले हैं। हम पुरुषार्थ नहीं छोड़ते तो प्रभु हमें धन देते ही हैं। २. **अयम्**=ये प्रभु ही **मृधः**=सब हिंसकों को **प्रभिन्दन्**=नष्ट करते हुए **पुरएतु**=हमें आगे ले-चलनेवाले हों। हमारा नेतृत्व प्रभु के हाथ में हो। प्रभु नेता और मैं अनुयायी। वे सब विघ्नों को दूर कर देंगे और इस प्रकार मेरी उन्नति निर्विघ्न होगी। ३. **अयम्**=ये प्रभु ही **वाजसातौ**=संग्रामों में **वाजान्**=अन्नों को **जयतु**=जीतें। इस जीवन-संग्राम में जब हम काम-क्रोधादि शत्रुओं के पराजय में व्यस्त होंगे तो हमारे खान-पान का ध्यान प्रभु करेंगे ही। ४. ये प्रभु ही **जर्हृषाणः**=हमें अत्यन्त हर्षित करते हुए **शत्रून् जयतु**=हमारे शत्रुओं को जीतें। काम-क्रोधादि का विजय भी वस्तुतः मुझे क्या करना? मुझे तो बस **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पणमात्र करना है।

भावार्थ—सब धनों का विजय व प्रापण करानेवाले प्रभु हैं। वे ही हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—विराड्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

चार आश्रम

रूपेणा वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु।
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्युन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः॥४५॥

१. गत मन्त्र की भावना थी कि हम आगे और आगे बढ़ते चलें। उसी भावना को अधिक व्यक्त शब्दों में प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं। यहाँ जीवन-यात्रा को चार भागों में बाँटकर पहले ब्रह्मचर्याश्रम के लिए कहते हैं कि (क) हे मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्गो! **वः रूपेण**=तुम्हारे उत्तम रूप से **रूपम्**=सुन्दर रूप को **अभ्यागाम्**=प्राप्त होऊँ। ब्रह्मचर्याश्रम में मैं शक्ति का सञ्चय करूँ। इस शक्ति-सञ्चय से मेरा प्रत्येक अङ्ग सुन्दर रूपवाला हो। प्रत्येक अङ्ग के सौन्दर्य पर ही शरीर का सौन्दर्य भी निर्भर करता है। (ख) इस ब्रह्मचर्याश्रम में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात ज्ञान की है, अतः कहते हैं कि **तुथः**=ज्ञानवृद्ध **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण ज्ञानोंवाला,

सब विषयों का पण्डित आचार्य **वः विभजतु**=तुम्हें अपने ज्ञान का विशेषरूप से सेवित करानेवाला हो। अपने ज्ञान का तुम्हारे साथ विभाग करे। एवं, ब्रह्मचर्याश्रम में हम स्वास्थ्य, सौन्दर्य व ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। २. इसके बाद गृहस्थ के लिए भी दो बातों को कहते हैं कि (क) **ऋतस्य पथा प्रेत**=सत्य के मार्ग से चलो। जीवन में ऋत का पालन करो। ऋत=right और नियमितता regularity=तुम्हारे जीवन का अङ्ग हो। सूर्य और चन्द्रमा की तरह अपने दैनिक कृत्यों को समय पर करनेवाले बनो। (ख) **चन्द्रदक्षिणाः**=तुम (चदि आह्लादे) आनन्दमय दानवाले बनो। तुम्हें दान देने में आनन्द का अनुभव हो। अथवा (चन्द्रं सुवर्णं दक्षिणा दानं येषां ते–द०) तुम सुवर्णादि उत्तम धातुओं को दान देनेवाले बनो। एवं, गृहस्थ के कर्तव्य हैं (क) नियमितता व (ख) दान।

३. अब वनस्थ के लिए कहते हैं कि (क) **स्वः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति आत्म-तत्त्व को **विपश्य** =विशेषरूप से देखने का प्रयत्न कर। वनस्थ ने सदा स्वाध्याय में युक्त रहकर आत्मदर्शन के लिए पूर्ण प्रयत्न करना है। (ख) **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **विपश्य**=विशेषरूप से देख। अपने हृदय का प्रातः-सायं निरीक्षण करनेवाला बन। यह आत्मालोचन की वृत्ति ही सारी उन्नतियों का मूल है। एवं, वनस्थ के कर्तव्य हैं–आत्मदर्शन व आत्मालोचन। ४. अब जीवन के अन्ति प्रयाण में संन्यासी के लिए कहते हैं कि **सदस्यैः**= सभा में स्थित व्यक्तियों के साथ **यतस्व**=तू यत्नशील हो। जो लोग ज्ञान की चर्चा सुनने के लिए सभा में पहुँचते हैं, उनके साथ तू पूर्ण प्रयत्न कर, अर्थात् तू अधिक-से-अधिक सुन्दर शब्दों में उन्हें ज्ञान देनेवाला बन। पूर्ण चिन्तन के साथ सरल-स्पष्ट युक्ति को उपस्थित करते हुए तू उन्हें धर्म के मार्ग को हृदयङ्गम करानेवाला बन। ज्ञान देना ही संन्यासी का कर्त्तव्य है।

भावार्थ–प्रथमाश्रम में स्वास्थ्य व ज्ञान, द्वितीयाश्रम में ऋत व दान, तृतीय में आत्मदर्शन व आत्मालोचन तथा चतुर्थ में ज्ञानप्रदान यही हमारे जीवन का कार्यक्रम हो।

ऋषिः–आङ्गिरसः। **देवता**–विद्वांसः। **छन्दः**–भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

दक्षिणा के योग्य ब्राह्मण

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳसुधातुदक्षिणम्।
अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत॥४६॥

गत मन्त्र में गृहस्थ का एक कर्त्तव्य 'दान' भी बताया गया था। दान पात्र को ही देना चाहिए। उस पात्र के विषय में गृहस्थ प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आपकी कृपा से मैं **विदेयम्**=प्राप्त करूँ। दान देने के लिए ऐसे व्यक्ति को पा सकूँ जो १. **ब्राह्मणम्**= (वेदेश्वरविदम्–द०) **'वेदाभ्यासात्ततो विप्रो ब्रह्म वेत्तीति ब्राह्मणः'** वेदाभ्यास से ब्रह्म को जाननेवाले ज्ञानी को, अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त करता है और ईश्वर के साक्षात्कार के लिए यत्नशील होता है। २. **पितृमन्तम्**=अतिविशिष्ट पितावाले को, जिसे माता-पिता से उत्तम सात्त्विक गुण प्राप्त हुए हैं ३. **पैतृमत्यम्**=जिसके पितामहादि भी वश्य व श्रोत्रिय थे, अर्थात् जितेन्द्रियता व विद्वत्ता जिसके कुल की विशेषता रही है। ४. **ऋषिम्**=जो तत्त्वद्रष्टा है ५. **आर्षेयम्**=(ऋषिषु विख्यातः–म०) ऋषियों में भी जो व्याख्यान-शक्ति के कारण प्रसिद्ध है। 'ऋषि' शब्द में आगम=ज्ञान की प्राप्ति की प्रधानता है तथा आर्षेय शब्द में संक्रान्ति, अर्थात् ज्ञान के व्याख्यान की प्रधानता है। संक्षेप में जिसके impression and expression दोनों ही उत्तम हैं। ६. **सुधातुदक्षिणम्**=उत्तम वीर्यादि धातुओं के कारण जो अपने कर्त्तव्य-

कर्मों में बड़ा दक्ष है। ७. उपर्युक्त गुणों से युक्त पात्र को हम प्राप्त करें। पात्र में दिया हुआ दान ही सफल होता है। **अस्मद्राताः**=हमारे दिये हुए धनो! तुम **देवत्रा गच्छत**=देवों में प्राप्त होओ, अर्थात् हमारे धन दिव्य गुणों से युक्त पुरुषों में ही दिये जाएँ, जिससे तुम फिर से **प्रदातारम्**=देनेवाले में **आविशत**=प्रविष्ट होओ। सुपात्र को दिया हुआ दान इस रूप में फलता है कि वह कई गुणा होकर दाता को फिर से प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—हम सदा पात्र में दान देनेवाले बनें।

ऋषिः—आङ्गिरसः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—भुरिक्प्राजापत्याजगती[१], स्वराट्प्राजापत्याजगती[२], निचृदार्चीजगती[३], विराडार्चीजगती[४]। **स्वरः**—निषादः॥

दान व प्रतिग्रह का प्रयोजन

[१]अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सो ऽमृतत्वमशीयायुर्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [२]रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सो ऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्रऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [३]बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सो ऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्रऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे [४]यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सो ऽमृतत्वमशीय हयो दात्रऽएधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे॥४७॥

१. लेनेवाला ग्राह्य वस्तु को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **त्वा**=तुझे **मह्यं अग्नये**=मुझ अग्नि के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं तुझे प्राप्त करके **अमृतत्त्वम् अशीय**=अमृतत्व को प्राप्त करूँ, अर्थात् तेरे अभाव में आवश्यक वस्तु की अप्राप्ति के कारण रोगादि की सम्भावना थी, वह अब न रहे। **दात्रे**=देनेवाले के लिए तू **आयुः**=आयु **एधि**=हो, उसके दीर्घ जीवन का कारण बन और **मह्यं प्रतिगृहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए तू **मयः**=सुख व नीरोगता का कारण हो। २. **त्वा**=तुझे **मह्यं रुद्राय**=मुझ रुद्र के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं तुझे प्राप्त करके **अमृतत्त्वम् अशीय**=अमृतत्व अर्थात् नीरोगता को प्राप्त करूँ। तू **दात्रे**=देनेवाले के लिए **प्राणः**=प्राणशक्ति **एधि**=हो। दाता की प्राणशक्ति बढ़े और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **वयः**=दीर्घजीवन हो। ३. **त्वा**=तुझे **मह्यं बृहस्पतये**=मुझ ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला दाता **ददातु**= दे। **सः**=वह मैं **अमृतत्वम् अशीय**=अमरता को प्राप्त करूँ। **दात्रे**=दाता के लिए यह दान **त्वक्**=रक्षा करने का संवरण **एधि**=हो और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे**=मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **मयः**=सुख व नीरोगता देनेवाला हो। ४. **त्वा**=तुझे **मह्यं यमाय**=मुझ यम-नियमों से बद्ध जीवनवाले यम के लिए **वरुणः**=पात्र का वरण करनेवाला **ददातु**=दे। **सः**=वह मैं **अमृतत्वम्**=अमरता को **अशीय** =प्राप्त करूँ। **दात्रे**=दाता के लिए तू **हयः**=घोड़ा—शक्ति का प्रतीक **एधि**=हो और **मह्यं प्रतिग्रहीत्रे** =मुझ प्रतिग्रहीता के लिए **वयः**=दीर्घजीवन हो।

ऊपर के मन्त्रार्थ में स्पष्ट है कि 'प्रतिग्रहीता' में निम्न गुण होने चाहिएँ—

(क) **अग्नये**=वह अग्नि हो (अग् गतौ), गतिशील हो। प्रकाश का फैलानेवाला व दोषों का जलानेवाला हो। (ख) **रुद्राय**=(रुत्+र) यह प्रजाओं को ज्ञान देनेवाला हो। रोरूयमाणो द्रवति=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए विचरनेवाला हो। (ग) **बृहस्पतये**=यह ब्रह्मणस्पति=ज्ञान की वाणी का पति हो तथा सर्वोच्च दिशा का अधिपति हो, अर्थात् अधिक-से-अधिक उन्नत हो। (घ) **यमाय**=इसका जीवन यम-नियम से नियन्त्रित हो।

दान लेने का उद्देश्य यह है कि–**'अमृतत्वम् अशीय'**=इसका जीवन आवश्यक वस्तुओं की कमी के कारण रोगाक्रान्त व असमय में मृत्यु का ग्रास न हो जाए। अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के लिए ही दान ले, मौज की सामग्री के लिए नहीं। **'मयः वयः'**=सुख–सब इन्द्रियों का स्वास्थ्य (सु+ख) व दीर्घजीवन प्राप्त हो सके यही लेने का उद्देश्य है।

दान देने का उद्देश्य यह है कि–दाता को दीर्घजीवन, प्राणशक्ति, वासनाओं के आक्रमण से बचाव तथा क्रियाशक्ति व वेग (आयुः, प्राणः, त्वक्, हयः) प्राप्त हो। दान मनुष्य को विलासवृत्ति से बचाकर इन सब वस्तुओं को प्राप्त कराता है। यज्ञशेष तो अमृत है। यह दान पाप से बचानेवाला सर्वोत्तम साधन है।

दाता का यह प्राथमिक कर्त्तव्य है कि वह 'वरुण' बने। वह वृ वरणे=पात्र का ही वरण करे। अपात्र में दिया हुआ दान न परलोक में कल्याण देता है न इहलोक में। व्यक्ति में अपात्रता की अधिक आशंका है, अतः समाज को दान देना श्रेयस्कर है।

भावार्थ–हम पात्र का विचार करके दान देनेवाले बनें।

ऋषिः–आङ्गिरसः। **देवता**–आत्मा। **छन्दः**–आर्ष्युष्णिक्। **स्वरः**–ऋषभः॥

दाता-प्रतिग्रहीता ?

कोऽदात्कस्मा॑ऽअदात्कामो॑ऽदात्काम॑यादात्।
कामो॑ दा॒ता काम॑ः प्रतिग्रही॒ता काम॒ैतत्ते॑॥४८॥

१. गत मन्त्र में दान का महत्त्व सुव्यक्त है। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'** इस वेदवाक्य के अनुसार मनुष्य देता है और प्रतिष्ठा को पाता है। **'न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते'**=देनेवालों की कभी निन्दा नहीं होती। 'दान देने पर यह प्रतिष्ठा कहीं दाता को गर्वयुक्त न कर दे', इसलिए समाप्ति पर कहते हैं कि हे मनुष्य! तू कभी यह मत सोचना कि तू देनेवाला है, देनेवाला तो वह सुखस्वरूप परमेश्वर ही है। **कः अदात्**=सुखस्वरूप परमेश्वर देता है। **कस्मै अदात्**=सुख के लिए ही देता है। प्रभु देते इसलिए हैं कि हमारा जीवन सुखी हो सके। जीवन के लिए आवश्यक सब वस्तुओं के प्राप्त हो जाने से सु–ख=सब इन्द्रियाँ स्वस्थ बनी रहें। २. **कामः**=(Supreme Being) सभी से कामना किया जानेवाला वह प्रभु ही (काम्यते) **अदात्**=देता है। **कामाय अदात्**=प्रभु इसलिए देते हैं कि हम उस प्रभु को पा सकें। यह पंक्ति विचित्र अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु इसमें वह मौलिक सत्य निहित है जो 'भूखे भजन न होई' इन शब्दों में कवियों से व्यक्त किया गया है। अधिक धन मनुष्य को मूढ़ बनानेवाला हो सकता है, पर धनाभाव तो अवश्य मूढ़ बना ही देता है। ३. **कामः दाता** =वे प्रभु ही दाता हैं। **कामः**=प्रभु की कामना करनेवाला जीव **प्रतिग्रहीता**=लेनेवाला है। ४. **काम**=हे संसार की सर्वोच्च सत्तारूप प्रभो! **एतत् ते**=यह सब दान आपका ही है। यह मेरा नहीं। मैं सदा लेनेवाला ही हूँ, अतः मैं क्या दान का गर्व करूँ। यह तो मेरे माध्यम से आप ही के द्वारा हो रहा है।

भावार्थ–हम दान दें, परन्तु उस दान का हमें गर्व न हो, क्योंकि वस्तुतः यह दानादि उत्तम कार्य हमारे माध्यम से उस प्रभु द्वारा ही किये जा रहे होते हैं।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥